मंजरी

स्त्री के मन की

RNI Title Code: BIHBIL02442

विद्रोहिणी

चर्चा उन बेबाक़ महिला साहित्यकारों की
जिन्होंने जो सोचा वो लिखा·····..

(महिला दिवस पर विशेष)

वर्ष 2024

अंक 26

श्रद्धांजलि

पद्मश्री डॉ. उषा किरण खान हिन्दी और मैथिली की वरिष्ठ साहित्यकार थीं। उन्होंने पटना विश्वविद्यालय से इतिहास एवं पुरातत्त्व में स्नातकोत्तर तथा मगध विश्वविद्यालय से पी–एच.डी. करने के बाद लम्बे समय तक अध्यापन कार्य किया। डॉ. उषा किरण खान ने 16 उपन्यास, हिंदी एवं मैथिली में 150 कहानियां, 2 मैथिली नाटक व 2 हिंदी नाटक लिखे। अपने लेखन की शुरुआत उन्होंने 1977 से की। उनका उपन्यास 'भामती', 18वीं सदी की मिथिला की रानी का एक काल्पनिक वृत्तांत, उनकी ऐतिहासिक विशेषज्ञता और स्पष्ट कथन का प्रमाण है।

पद्मश्री उषा जी अपने उपन्यासों, कहानियों और नाटकों के अलावा बाल साहित्य के लिए भी जानी जाती हैं। उषा किरण खान हिंदी और मैथिली के साहित्यिक आकाश में एक चमकता सितारा थीं। साहित्य अकादमी पुरस्कार और पद्मश्री सम्मान सहित अनेकानेक पुरस्कारों से विभूषित हो चुकीं 74 वर्षीया उषा जी का निधन 11 फरवरी 2024 को हो गया।

वे हमारी पत्रिका 'मंजरी: स्त्री के मन की' संपादक मंडल की अध्यक्ष थीं। हमारा मंजरी परिवार उन्हें श्रद्धांजलि अर्पित करता है।

उषा जी अक्सर अपना परिचय महादेवी वर्मा की इन पंक्तियों से देती थीं:

"परिचय इतना इतिहास यही,
उमड़ी कल थी, बह आज चली"

संकल्पना

संकल्पना

इक्विटी फाउंडेशन लंबे अरसे से एक वेब पत्रिका शुरू करने के बारे में सोच रहा था। मकसद था महिला और समाज के मुद्दों को शिद्दत से उठाना। जब हमने चीजों को एक साथ कर उसे पत्रिका के रूप में सजाने के बारे में सोचना शुरू किया तो इस क्रम में कई लोगों से जुड़े। हमने महिलाओं को पत्रिका से जोड़ने की कोशिश की। हम दोस्तों से मिले और परिचितों से बात की। महिलाओं के सामाजिक समूहों और शिक्षाविदों के एक साथ जुड़ने के बाद जो स्वरूप सामने आया वह है 'मंजरी'।

मंजरी यानी कोंपल। शाखों में फूटने वाली नन्ही पत्तियां। नई शाखों का सृजन करने वाले इन कोंपल को कुम्हलाने से बचाना जरूरी है नहीं तो पूरे पेड़ का विस्तार कुंद हो जाएगा। ठीक उसी तरह स्त्री के मन की मंजरी को सहेजने की जरूरत है वरना पेड़रूपी समाज विकृति का शिकार हो जाएगा। हमारा प्रयास इसी मंजरी को पुष्पित पल्लिवत करने का है जो औरत की सोच और उसकी को. शिश को सही दिशा प्रदान कर सके।

मंजरी के सृजन के दौरान पहले तो 10–30 लोगों का एक ढीला–ढाला समूह बना। विचार आते गए। अलग–अलग विषयों और मुद्दों पर। समूह में कुछ अनमनी महिलाएं थीं तो कुछ सहानुभूति दिखाने वाले पुरुष भी। कुछ महज एक या दो बैठकों में शामिल हुए तो कुछ जब मन में आया, आ गए। बाकी बचे लोगों ने 'मंजरी' को मुकाम पर ले जाने का दायित्व अपने कंधों पर लिया। 'मंजरी' का लक्ष्य एक ऐसा मंच उपलब्ध कराना है जहां बुद्धिजीवियों को उनकी खुराक मिले तो शोधकर्ताओं की जिज्ञासा शांत हो। क्रियान्वयन के लिए बहस और तर्क के रास्ते हमेशा खुले रहें। इक्विटी की लगातार कोशिश रही है शोध और क्रियान्वयन के बीच की दूरी को पाटना। ऐसे में हमारा मानना है कि शोध तब तक अप्रासंगिक हैं जब तक कि इनका लोगों की जिंदगी और उनके क्रियाकलापों से जुड़ाव न हो। ठीक इसी तरह सिविल सोसायटी के तौर पर अगर हम जमीनी सच्चाई से वाकिफ न रहें, जिनमें सामाजिक प्रक्रियाएं और ऐतिहासिक मूल्यों का समावेश है और जो समाज में रहने वाले लोगों के मूल्यों और उनके चरित्र को आकार देते हैं, तो किसी भी कोशिश का कोई मतलब नहीं रहता है।

'मंजरी' एक उद्यम है, क्रियाशीलता को शोध आधारित रचना और आलोचना के नजरिये से देखने का जो महिला अधिकारों के साथ–साथ जीवन के हर पलू को इंगित करे। नियमित गैर सरकारी संगठनों और अकादमिक तंत्रों से इतर 'मंजरी' राजनीति और आदर्शवादिता को लांघ कर सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक सुधारों को सांस्कृतिक संवेदनशीलता के आधार पर मापती है। 'मंजरी' उन तमाम कार्यकर्ताओं, विद्वानों, शिक्षाविदों, पत्रकारों, प्रोफेशनल, गृहणियों और नीति निर्धारकों द्वारा पढ़ी जाएगी जो किसी समस्या के लिए समाधान आधारित नवीन दृष्टि और पृथक सोच रखते हैं। यह पत्रिका अपने पाठकों को जेंडर आधारित मुद्दों को जैविक और सामा. जिक आधार पर परखने की छूट देती है। व्यक्ति और समाज की विचारधारा में जेंडर को लेकर क्या बदलाव आये और उनका क्या असर हुआ, इसकी पूरी पड़ताल करने की आजादी लोगों को होगी। यह पत्रिका एक कोशिश है पड़ताल की प्रवृत्ति को जगाने की ताकि लोग तेजी से बदलते और विविधताओं से भरे समाज में पूरी क्षमता से काम करने को तैयार हो सकें जिसमें महिलाओं के प्रति भेदभाव भी एक अहम मुद्दा होगा। महिला समानता और अधिकारों पर 'मंजरी' के दखल से उन बेशुमार कार्यकर्ताओं, संगठनों और विद्वजनों को फायदा होगा जो दहेज, यौन प्रताड़ना, महिला अधिकारें, महिला आरक्षण, आर्थिक सुधार और अल्पसंख्यक समुदायों के निजी कानूनों में रुचि रखते हैं।

पत्रिका का मकसद

इक्विटी फांडेशन खुद को सुविधाविहीन महिलाओं को उनकी पूर्ण क्षमता से अवगत कराने और समाज में उनके क्रियाशील प्रभुत्व को स्थापित कराने की दिशा में वाहक के तौर पर देखता है। देश के विकास के हर क्षेत्र में महिलाओं की समान भागीदारी की राष्ट्रीय नीति तभी सफल हो पाएगी जब महिलाओं की भूमिका और उनके योगदान को कमतर आंकने वाले संस्थान और विचारें को हतोत्साति किया जाये या उनका पूरी तरह सफाया किया जाय। 'मंजरी' की परिकल्पना समाज और अर्थव्यवस्था में महिलाओं के जीवन और उनके स्तर को प्रभावित करने वाले विचारें के निर्माण, विकास और उनके प्रसार के लिए की गई है। बारहवीं पंचवर्षीय योजना के परिप्रेक्ष्य में समानता संबंधी मुद्दों को इस प्रकार समग्र रूप में देखने की जरूरत है जो असमानता की अंतरवर्गीय विशेषताओं को जाहिर कर सके। समानता पर आधारित 'मंजरी' के ज्यादातर आलेख भिन्न–भिन्न समूहों को निशाने पर रखते हैं जो कुछ हद तक बेहद जरूरी भी है। इसलिए यह पत्रिका कुछ समूहों के कुछ विशेषाधिकारें के पूर्ण निष्कासन और अंतरवर्गीय दृष्टिकोणों के स्थापन के बीच नियंत्रक की भूमिका में होगी जो नीति निर्धारण और योजनाओं के क्रियान्वयन के दौरान असमानता को उसके तमाम स्वरूपों के साथ सामने रखने में कारगर होगी। ऐसे में इसका मकसद लैंगिक भेदभाव के निर्मूलन की ओर वह विवेचनात्मक चर्चा छेड़ने का है जो वर्तमान परिदृश्य में शोधों का एजेंडा तय कर सके और एक बेहतर वैकल्पिक प्रस्ताव का सृजन कर सके। अब तक यह संगठन कार्यशाला, कांफ्रेंस और अन्य सार्वजनिक आयोजनों के जरिये अपनी प्रतिबद्धता दर्शाता रहा है लेकिन अब इस पत्रिका के माध्यम से यह क्षेत्रीय, राष्ट्रीय और अंतरराष्ट्रीय अतिथि लेखकों, जिनमें विद्वजन, अधिवक्ता, सरकार, पत्रकार, फिल्म निर्माता, कवि और सामाजिक कार्यकर्ता हैं, को जोड़ने की कोशिश कर रहा है।

हमारी बात

संरक्षण

पद्मश्री डा. उषा किरण खान
प्रख्यात लेखिका एवं साहित्यकार

मणिकांत ठाकुर
प्रख्यात पत्रकार

प्रो. भारती एस. कुमार
प्रोफेसर (सेवा.) इतिहास, पटना विवि

डा. रेणु रंजन
प्रोफेसर (सेवा.), समाज शास्त्र
पटना विवि

परामर्श

डा. शरद कुमारी
सचिव, बिहार महिला समाज

अंजिता सिन्हा
पत्रकार

डा. मधुरिमा राज
स्वतंत्र लेखिका एवं शोधकर्ता

सुजाता गुप्ता
लेखिका, कवयित्री एवं अनुवादक

संपादकीय

जहां भी आजाद रूह की झलक पड़े, समझना वह घर है मेरा...

जब किसी ने यह तय किया कि औरतों को शब्दों से दूर रखा जाए, जब ये रिवाज हुआ कि औरत बाहर न निकले, घर और घर वालों में उलझी रहे सारी उम्र, तब उस पर क्या–क्या बीती? इसका जवाब मिलना मुश्किल होता अगर औरतों ने अपने सत्य से अपना साहित्य न रचा होता। दो हजार साल पहले भी स्त्रियों ने बंधन तोड़े। अपने अनुभवों को शब्दों में बाँधा।

स्त्रियों की आवाज लोक–गीत में शुरू से सुनाई देती थी। खेत में गूँजती उसकी मेहनत, उसके बदन की थकान। लोरियों में ममता, शादी के खट्टे–मीठे गीतों में उसके सपने और शरारतें झलकती हैं। लोकगीत को 'साहित्य' का दर्जा मिला नहीं। इतिहास लिखने वाले ज्यादातर पुरुष थे, इसलिए स्त्रियों के संघर्ष का बयान कम ही हुआ। स्त्रियों के पास सोचने की फुर्सत, छंद–कविता रचने की आजादी बहुत कम थी। जिन स्त्रियों ने आजादी हासिल की, अक्सर घर– गृहस्थी से अलग होकर रहीं।

बुद्ध के समय में भिक्षुणी स्त्रियों की रचनाएँ हैं जिनमें घरेलू जीवन का दुख भी शामिल है, मोह–माया त्याग देने के बाद की शांति भी। पाली में लिखी ये कविताएँ 'थेरि गाथा' नाम के संग्रह में मिलती हैं। मुगल राजकुमारी जैबुन्निसा लिख सकती थी, लेकिन अपनी किस्मत का फैसला खुद नहीं कर सकी। लिख सकती थी गुलबदन बेगम, जो बाबर के घराने की राजकुमारी थी, और लिखा भी 'हुमायूँनामा'। अपनी कहानी या किसी दूसरी रानी की कहानी न लिखी।

आम औरत साहित्य से उतनी ही दूर थी जितनी सत्ता से। 18वीं सदी आते –आते उसकी हालत अच्छी नहीं थी। ऊँची जाति, राजा या नवाब परिवार हुआ तो पर्दे में रही। सती प्रथा थी। जमीन–जागीर में हिस्सा न था। छोटी –छोटी बच्चियों की शादी होती और वे नाबालिग विधवा भी हो जातीं। 19वीं सदी में बंगाल में रससुंदरी देवी की आत्मकथा पढ़ें तो मालूम होता है कि आम औरत का जीवन कितना बँधा हुआ था, पढ़ने–लिखने पर कितनी सख्त पाबंदी थी।

20वीं सदी में चारों तरफ आजादी की लड़ाई का जोश था। सियासी बैठकें, हड़ताल, रैली, बवाल। लड़के लड़की, पुरुष स्त्री एक दूसरे को पढ़ रहे थे, साथ लड़ रहे थे। स्त्रियों की आवाज और हिस्सेदारी बढ़ रही थी। अरुणा आसफ अली जैसी कार्यकर्ता भी थीं, डॉक्टर रशीद जहां, महादेवी वर्मा जैसी लेखिकाएँ भी, जिनके शब्दों में समाज बदलने की कोशिश साफ उभरती है।

कुछ ही साल बाद, एक साहित्यिक पन्ना और पलटा गया। अब जो लिखा जा रहा था खास तौर से कहानी और उपन्यास में उसमें झिझक कम थी और कलात्मक

मुख्य संपादक

नीना श्रीवास्तव

संपादक

दीपिका झा

शोध

नीना श्रीवास्तव
दीपिका झा

आवरण चित्र

वरिष्ठ अतिथि कलाकार
अनु प्रिया

लोगो डिजाइन

दीया भारद्वाज

प्रबंधन/व्यवस्था

राहुल कुमार

प्रकाशन

इक्विटी फाउंडेशन

संपर्क

इक्विटी फाउंडेशन
123 ए, पाटलीपुत्र कॉलोनी
पटना, 13
फोन : 0612.2270171

ई–मेल
equityasia@gmail.com
वेबसाइट
www.emanjari.com

भाव ज्यादा। इस्मत चुगताई और विभावरी शिरूरकर, कुर्रतुलऐन हैदर और ललिता तांबि का 'अंतर्जनम', आशापूर्णा देवी और ज्योतिर्मयी देवी जैसी लेखिकाएँ उभरीं। जैसे जैसे देश में साक्षरता बढ़ती गई, किताबों और पत्रिकाओं का प्रकाशन बढ़ा। इसके साथ ही लेखन की शैली और कहानी का ढाँचा बदलता रहा।

शब्दों का इस्तेमाल अपने हक में करना अब संभव था। ये समय कविता छन्द का नहीं था। समय था साफ बात करने का। सच कहना था निडर होकर और कहने वालियों की अब कमी नहीं थी। कुछ प्रमुख नाम थे पंडिता रमाबाई सरस्वती, तारा बाई शिंदे, रमाबाई राणा डे, सावित्रीबाई फुले, कॉर्नीलिया सोराबजी, सरोजिनी नायडू और रुकैया सखावत हुसैन। रुकैया हुसैन जो भी लिखतीं उसमें समाज का वर्णन और उस पर टिप्पणी जरूर होती। उन्होंने तो कल्पना की आड़ में पूरी व्यवस्था उल्टी कर डाली कि जहाँ मर्द पर्दे में हैं और औरत दुनिया चलाती है सुख और शांति से।

अब 21वी सदी आ पहुँची, लेखिकाओं की गिनती हजारों में है। देश की हर भाषा में सैकड़ों किताबें छपती हैं। अखबारों में भी महिला पत्रकारों के पहले से ज्यादा नाम दिखते हैं। जैसे–जैसे देश में साक्षरता बढ़ती गई, किताबों और पत्रिकाओं का प्रकाशन बढ़ा। इसके साथ ही लेखन की शैली और कहानी का ढाँचा बदलता रहा। अब जो नई आवाजें उठ रही हैं, लेखिकाओं की आपबीती नहीं हैं। ये सिर्फ स्त्रियों की आवाजें भी नहीं हैं। ये स्त्री की कलम से निकलती इस समय की सियाही है, जिसमें खून भी मिला है, मिट्टी भी और प्यार भी। शिवानी जैसे उपन्यसकारों की लिखाई में कहानी का बदलता रूप साफ नजर आता है। कृष्णा सोबती नाटक को उपन्यास की तरह लिख डालतीं। महाश्वेता देवी का लेखन बिजली की तरह गिरता है। नबनीता सेन ने अकेले सफर करके हमको अपने बारे में और इस देश में अकेली औरत के बारे में बात करने का एक नया ढंग दिखाया। पिंकी वीरानी ने अरुणा शानबाग के बलात्कार पर 'अरुणाज स्टोरी' और बाल उत्पीड़न पर 'बिटर चॉकलेट' लिखी। माला सेन ने फूलन देवी पर 'बैंडिट क्वीन' और स्त्रियों को जलाकर मारने के मुद्दे पर 'डेथ बाइ फायर' लिखी, और सोनिया फल्येरो ने मुंबई की बार डांसरों पर 'ब्यूटिफुल थिंग' लिखी।

हमारे 26वें अंक का शीर्षक है 'विद्रोहिणी'। यह समर्पित है उन महिला साहित्यकारों को जिन्होंने जो एक बार लिखने को ठान लिया, सो ठान लिया, फिर चाहे कितना भी विरोध होता रहे। वो बेबाक महिला साहित्यकार, जिन्होंने जो सोचा वही लिखा। 'मंजरीः स्त्री के मन की' ने कोशिश की है ऐसी ही महान महिला साहित्यकारों से आपका परिचय करवाने की जिनके शब्दों के जादू ने सबको सम्मोहित किया है, इनकी लेखनी समय और काल से परे, भाषा के बन्धनों से आजाद और बेबाक रही है।

"गर जोर है अपनी बाहों में तो हालात बदलना मुमकिन है"– कमला भसीन

मंजरी परिवार की ओर से आप सभी को महिला दिवस की अशेष शुभकामनायें!

Srivastava

नीना श्रीवास्तव

श्रोत : एनी जैदी (www.bbc.com/hindi)

अनुक्रम

11

3

24

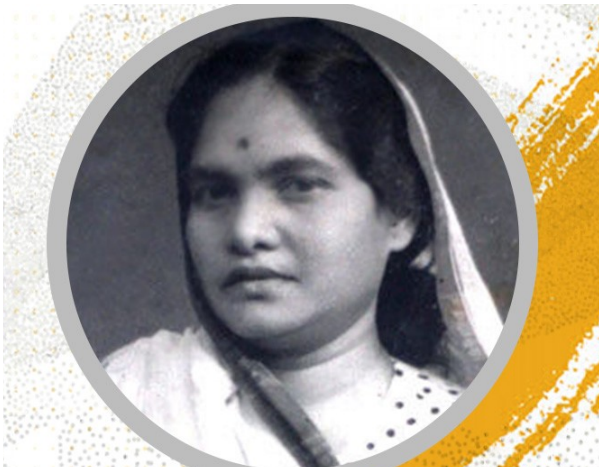

20

अनु प्रिया (कलाकार/लेखिका)

सुपौल बिहार में जन्मीं अनु प्रिया जी के साठ से अधिक किताबों के आवरण एवं पत्र–पत्रिकाओं में रेखाचित्र प्रकाशित हो चुके हैं। साहित्य अकादमी, राजकमल प्रकाशन, वाणी प्रकाशन, अल्टरनोट प्रकाशन, अगोर प्रकाशन, प्रकाशन विभाग आदि से किताबों के आवरण पर निरंतर इनके द्वारा बनाये गए चित्र का प्रकाशन होता रहता है।

15

थीम पेपर

समकालीन कथा परिदृश्य में स्त्री रचनाकार

डॉ रानू मुखर्जी

इक्कीसवीं सदी के साहित्यिक परिदृश्य में स्त्री को केंद्र में रखकर होनेवाले चिंतन ने अब एक निर्णायक स्थिति अख्तियार कर ली है। सदियों से हाशिए पर खड़े हुए ये वर्ग अब चर्चा में है और अपना महत्व सुनिश्चित कर चुके हैं। समकालीन स्त्री लेखन में स्त्री की अस्मिता की पहचान की कोशिश है। साथ ही वह परंपरा और रुढ़ियों के विरुद्ध सतर्कता से संघर्ष और प्रतिरोध कर रहा है। आज के इस भूमंडलीकृत समाज में स्त्री के प्रति व्यावसायिक और भोगवादी नजरिया तेजी से पनपा है। समकालीन महिला रचनाकारों ने अपनी रचनाओं के माध्यम से इस स्थिति से उबरने की सृजनात्मक कोशिश की है। उनकी रचनाओं में समाज की इस व्यवस्था में नारी की स्थिति को बड़ी ईमानदारी के साथ व्यक्त किया गया है। साहित्य और समाज का संबंध बहुत पुराना है और उसका संबंध अनादिकाल से चला आ रहा है और दोनों का संबंध मनुष्य से है। मनुष्य समाज में रहने के साथ–साथ समाज को प्रभावित करता है और खुद भी प्रभावित होता है। साहित्यकार समाज का अंग है और समाज की परिस्थिति का प्रभाव उस पर पड़ता है।

थीम पेपर

साहित्यकार समाज को साहित्य में बांधता है और साहित्य से समाज का मार्गदर्शन होता है। इस बात को नकारा नहीं जा सकता है कि साहित्यकार युग दृष्टा और सृष्टा होता है। वह समाज की समस्याओं को देखता, सुनता और समझता है और उसी तरह साहित्य की सृष्टि करता है।

स्त्री लेखन और उसके जीवन अनुभूत के बीच का फासला बहुत कम है। शायद यही वजह है कि स्त्री लेखन अपनी प्रारम्भ से ही समाज और परिवार द्वारा बनाए दायरों को अतिक्रमण करने की कोशिश करता रहा है। वो दायरे जो उसके अपने ने कभी सुरक्षा, कभी मर्यादा के नाम पर उसके लिए रचे हैं। इन दायरों की पहचान और समझ "कि समाज के विधानों की जंजीरों से जकड़ी हुई नारी जब तक अपने बंधन आप नहीं काटती– कोई शक्ति उसका सर्वनाश होने से नहीं बचा सकती" (व्यक्तित्व की भूख – सुमित्रा कुमारी सिन्हा)। वास्तव में स्त्री का प्रतिरोध या चेतना की जागृति एक ही घटना नहीं है। इसमें सदियों से चली आ रही संघर्ष की गाथा प्रस्तुत है। इसमें सांस्कृतिक नवोत्थान, शैक्षिक संस्थाएं एवं नारीवादी आंदोलनों का प्रमुख हिस्सा है। समकालीन लेखिकाओं ने आज के जीवन की परिवर्तनशीलता और नारी–जीवन के परिवर्तित मूल्यों को अत्यंत मार्मिकता के साथ अपने उपन्यासों में चित्रित किया है।

नित नई होती टेक्नोलोजी, भूमंडलीकरण और बाजारवाद के इस दौर में, जबकि स्त्री की दबी–दुबकी दुनिया में एक जबर्दस्त परिवर्तन आया है, बेशक वह कितना ही सतही क्यों न हो, कहानी के भीतर भी यह बदलाव भिन्न–भिन्न रूपों में प्रतिध्वनित हो रहा है। आज एक बड़ी संख्या में स्त्री कथाकार सामने आ रही हैं और तमाम नारी आंदोलनों और स्त्री विमर्शों को बरबस खुलकर लिख रही हैं। उन्होंने यह मिथ्या भी तोड़ी है कि स्त्री सिर्फ घर–परिवार की ही बात कर सकती है। कृष्णा सोबती, मन्नू भण्डारी, ममता कालिया, मृदुला गर्ग, नासिरा शर्मा, उषा प्रियंवदा से लेकर चित्रा मुद्गल, अल्का सरावगी, चन्द्रकान्ता, मैत्रेयी पुष्पा, राजी सेठ, अर्चना वर्मा, मधु कांकरिया, अल्पना मिश्र, मनीषा कुलश्रेस्ठ, जया जादवानी, उर्मिला शिरीष, गीतांजली श्री, सुषमा मुनीन्द्र, रोहिणी अग्रवाल, रजनी गुप्त, कविता, सुधा अरोड़ा, इंदिरा दागी आदि की एक लंबी फेहरिस्त है जिन्होंने हिन्दी कथा साहित्य को लेखन से सींचा है।

समकालीन लेखिकाओं ने जीवन की परिवर्तनशीलता और नारी जीवन के परिवर्तित मूल्यों को अत्यंत मार्मिकता के साथ अपनी रचनाओं में चित्रित किया है। भूमंडलीकृत समाज में अपने अस्तित्व को बनाए रखने की जो छटपटाहट स्त्री रचनाकारों में दर्ज हुई है वह समकालीन दौर में स्त्री–लेखन को विशिष्ट स्थान प्रदान करती हैं। आलोचकों के अनुसार, "वह अपने वजूद को महसूस करती है। एक सजग इकाई के रूप में वह तमाम यथार्थ स्थितियों से प्रतिकृत होती वर्तमान सामाजिक परिवेश के अंतर्विरोधों व असंगतियों को अपनी व्यक्तिमत्ता, स्त्री अस्मिता और मानवीय स्थिति के परिप्रेक्ष्य में जानना समझना चाहती है। उनका विश्लेषण विवेचन करने का प्रयास करती है।"

आज के कथा साहित्य में स्त्री स्वर का सच बेरोकटोक सबके सामने उजागर हो रहा है। कहीं सुधा अरोड़ा जैसी लेखिकाओं की संयमित कलम से, जो उधड़े हुए सच को बेशक उधड़ा ही रहने देगी, लेकिन इस बात का भी ध्यान रखेगी कि वह और अधिक बेपर्दा न हो तो दूसरी ओर जयश्री राय और गीताश्री बिंदास और बेबाक लेखिकाएँ हैं जो उधड़े हुए स्वेटर को खींचकर पूरा उधेड़ देने में भी कोणी नहीं बरतेंगी, लेकिन उद्देश्य सबका वही है, सब वही कर रही हैं, अपने अपने अंदाज में कथा के माध्यम से सच को सामने लाना।

स्त्री के आधे अधूरे रिश्तों के पीछे छिपी हकीकत को निर्ममता से उजागर करती किरण अग्रवाल की कहानी "जो इन पन्नों में नहीं है" की नायिका का कथन– "हर नाम मुझे अपना ही लगता है। हर स्त्री का चेहरा अपने जैसा लगता है। जब कभी किसी स्त्री को अकेली भीड़ में देखती हूँ तब लगता है कि वह तो मैं हूँ। तब बड़े पेशोपोस में पड़ जाती हूँ कि अगर वह मैं हूँ तो मैं कौन हूँ?" मन को उत्कंठा से भर देता है। नीला प्रसाद की कहानी "चालीस साल की कुंवारी लड़की" की नायिका की शादी इसलिए नहीं हो पाती क्योंकि एक तो वह ईसाई के साथ शादी करना चाहती है और दूसरे तमाम गुणों के बावजूद वह साँवली भी है। प्रकृति करगेती की कहानी "ठहरे हुए से लोग" की नायिका, बाजार में काँच की दीवार के पीछे सजी–धजी खड़ी एक बुत, खुश है कि वह एक बुत है क्योंकि "शीशे की दीवारों के अंदर कोई 'गलत काम' भी नहीं हो सकता था उसके साथ।"

पर्वतारोहण की पृष्ठभूमि पर लिखी गई किरण सिंह की कहानी "द्रोपदी पीक" में भी वहाँ इस ऊंचाई पर भी बर्फ के नीचे दबा वही निर्मम सच उभर कर आ रहा है– "दुनिया में औरत का भाग्य और सब्जी मंडी में सब्जियों का भाव एक बराबर होता है। काहे की सब सब्जीवाले मिलकर यह तय कर लेते हैं। कोई दाम बिगाड़नेवाला हो तो उसे जात बाहर किया जाता है।"

उपरोक्त सभी लेखिकाओं का जीवनानुभव अलग–अलग है। न केवल कहानियों के विषय और प्रस्तुतीकरण बल्कि स्वरों के घात प्रतिघात भी एक दूसरे से बिलकुल भिन्न है। फिर भी सच एक ही है जो दिखाई दे रहा है– हर स्त्री स्वर से। कहानियों में स्त्री स्वर का सच अपने होने के पक्ष में चाहे कितना भी बुलंद हो, समाज में उसका प्रभाव उस अनुपात में पड़ता नहीं दिखता है, परंतु जितना दिख रहा है वह निराशाजनक नहीं है। कहानियाँ मात्र कोरी काल्पनिक नहीं होती। कथाकार की संवेदना अपने परिवेश में घट रही विसंगतियों के तरंग को अनायास ही ग्रहण कर लेती है, और उन अनुभूतियों को वह शब्दों के द्वारा अभिव्यक्त कर देता है।

(लेखिका कोलकाता की रहने वाली हैं तथा लेखन कार्य के अलावा अनेक भाषाओं की अनुवादक भी हैं। इनके कई कहानी संगह भी प्रकाशित हो चुके हैं।)

आधुनिक भारत की पहली विद्रोही कवयित्री

सावित्रीबाई फुले

सिद्धार्थ (साभारः https://hindi.theprint.in)

सावित्रीबाई फुले (3 जनवरी 1831–10 मार्च 1897) भारत की प्रथम भारतीय महिला शिक्षिका थीं, इस तथ्य से हम सभी वाकिफ हैं, लेकिन बहुत कम लोग हैं, जो इस तथ्य से परिचत होंगे कि वे आधुनिक भारत की पहली विद्रोही महिला कवयित्री और लेखिका थीं। उनकी कविताओं का पहला संग्रह, 'काव्य फुले' 1854 में प्रकाशित हुआ था। तब वे महज 23 वर्ष की थीं। इसका अर्थ है कि 19–20 वर्ष की उम्र से ही उन्होंने कविताएं लिखनी शुरू कर दी थीं। उनका दूसरा कविता संग्रह बावनकशी सुबोध रत्नाकर नाम से 1891 में आया।

3 जनवरी 1831 को महाराष्ट्र के सतारा जिले के नायगांव में सावित्री बाई का जन्म एक माली परिवार में हुआ था। केवल 9 वर्ष की अवस्था में उनका विवाह ज्योतिराव फुले के साथ कर दिया गया था। ज्योतिराव जिन्हें लोग ज्योतिबा भी कहते थे, स्त्री शिक्षा के जबर्दस्त पक्षधर थे और लोगों के विरोध के बावजूद वे सावित्री को पढ़ाने लगे। बाद में उन्होंने सावित्री का दाखिला पुणे के एक टीचर्स ट्रेनिंग स्कूल में करा दिया। इसके बाद ज्योतिबा और सावित्री ने मिलकर वंचित वर्ग की बच्चियों के लिए भिड़े वाड़ा में विद्यालय खोला जो देश में किसी भारतीय द्वारा स्थापित लड़कियों का पहला स्कूल बन गया। कालांतर में उन्होंने तीन और स्कूल खोले। कहा जाता है कि इन स्कूलों में आने वाले बच्चों की संख्या सरकार द्वारा स्थापित स्कूलों के बच्चों से भी ज्यादा होने लगी। यह बात उच्च वर्ग के हिन्दुओं को नहीं सुहाई और उन्होंने स्कूल जाने के समय सावित्री बाई पर अंडों, गोबर और पत्थरों से हमला करना शुरू कर दिया। वे सावित्री पर कई तरह के अनर्गल

आरोप भी लगाने लगे। लेकिन जब समाज के तथाकथित ठेकेदारों की एक न चली तो उन्होंने ज्योतिबा के पिता को उकसाया कि वे उन दोनों को घर से बाहर निकाल दें। कहा गया कि धर्मशास्त्रों में स्त्रियों की शिक्षा को पाप बताया गया है। घर निकाला दे दिए जाने के बाद ज्योतिबा और सावित्री को उनके करीबी मित्र उस्मान शेख और फातिमा बेगम शेख ने अपने घर में शरण दी और फिर उनके घर में ही सबने मिलकर एक और स्कूल खोला। स्त्री शिक्षा और औरतों की आजादी के लिए समर्पित सावित्री बाई ने 1890 में ज्योतिबा की मौत के बाद सामाजिक रूढ़ियों को तोड़ते हुए अपने पति की चिता को आग भी दी।

सावित्रीबाई फुले अपनी रचनाओं में एक ऐसे समाज और जीवन का सपना देखती हैं, जिसमें स्त्री–पुरुष समानता हो, किसी तरह का कोई अन्याय न हो, हर इंसान मानवीय गरिमा के साथ जीवन व्यतीत करे। बेहतर समाज और सबके लिए खूबसूरत जिंदगी के मार्ग में उन्हें सबसे बड़ी बाधा ब्राह्मणवादी–मनुवादी व्यवस्था और इसके द्वारा रची गई जाति–पाति और स्त्री–पुरुष के बीच भेद–भाव दिखाई देता था। उन्होंने अपनी कविताओं में सबसे ज्यादा चोट मनुवाद, जाति–पाति के भेद और स्त्री–पुरुष के बीच की असमानता पर किया है। 'शूद्रों का दर्द' शीर्षक कविता में वे लिखती हैं–

शूद्रों का दर्द
दो हजार वर्ष से भी पुराना है
ब्राह्मणों के षड्यंत्रों के जाल में
फंसी रही उनकी 'सेवा'

उनकी कविताएं साक्षी हैं कि उन्हें इस बात का गहरा अहसास था कि शूद्रों की पराधीनता, दुर्दशा और गरीबी के लिए उनकी अज्ञानता, रूढ़िवादिता और परंपराओं की बेड़ियां जिम्मेदार हैं। डॉ आंबेडकर शिक्षित बनो का नारा देते हैं। सावित्रीबाई फुले भी अपनी कविताओं में मनुवादी बेड़ियों को तोड़ने और शिक्षित बनने का आह्वान करती हैं। वे कहती हैं कि सदियों से शिक्षा से वंचित अज्ञानता के शिकार शूद्रों, इतिहास ने तुम्हें बड़ा अच्छा अवसर प्रदान किया है। अंग्रेजों ने ब्राह्मण पेशवाओं का अंत कर दिया है, जिन्होंने तुम्हारी शिक्षा पर प्रतिबंध लगा रखा था। वे कहती हैं, उठो, पेशवाओं का अंत हो चुका है। यह अच्छा अवसर है जब तुम अपनी गुलामी की परंपरा तोड़ सकते हो, लेकिन साथ ही वे इस बात के लिए भी चेताती हैं कि तुम मनुवादी शिक्षा मत लेना।

सावित्रीबाई फुले भारतीय पुनर्जागरण की कवयित्री हैं। यूरोपीय पुनर्जागरण के दार्शनिकों ने यह सवाल उठाया था कि मानवीय गरिमायुक्त जीवन किसे कहें? किस जीवन को मानवीय जीवन कहें? किसे पशुवत जीवन कहते हैं? भारत में ब्राह्मणवाद–सामंतवाद ने अधिकांश लोगों के जीवन को पशुवत जीवन बना दिया था।

उठो, अरे अतिशूद्र तुम
यह गुलामी की परंपरा की
मनुवादी पेशवा मर–मिट चुके
खबरदार मत लेना, मनु विद्या तुम।

अंग्रेजों के कारण शूद्रों, अतिशूद्रों और महिलाओं को शिक्षा का अवसर मिला था। इस शिक्षा ने इन तबकों के लिए मुक्ति का द्वार खोला था, क्योंकि मनुवादी–ब्राह्मणवादी शिक्षा समाज के हर वर्ग को शिक्षा नहीं देती थी। अपनी एक कविता में सावित्रीबाई कहती हैं–

ज्ञानदाता अंग्रेज जो आए
अवसर पहले ऐसा न पाया
जागृत हो, अब उठो भाइयों
उठो, तोड़ दो परंपरा को
शिक्षा पाने उठो भाइयों

आधुनिक अंग्रेजी ज्ञान को सावित्रीबाई फुले माता का दर्जा देती हैं। उनकी एक कविता है– 'स्नेहमयी मां'। इसमें इसके पहले के ज्ञान को वे मूर्खों का ज्ञान कहती हैं। आधुनिक ज्ञान सत्य से अवगत करता है–

अंग्रेजी मां, अंग्रेजी मां
अंग्रेजी मां तोड़–मोड़े
पशुवत भावना को,
तू ही देती मनुष्यता मां,
हम जैसे शूद्र जनों को

शूद्रों–अतिशूद्रों की गुलामी और दुर्दशा के साथ सावित्रीबाई फुले ने अपनी कविताओं में महिला की स्थिति का अत्यन्त मार्मिक वर्णन किया है। वे लिखती हैं कि महिलाएं सुबह से शाम तक खटती हैं, जबकि बहुत सारे पुरुष मुफ्तखोर की तरह बैठे रहते हैं। वे प्रकृति से उदाहरण देकर बताती हैं कि पशु–पक्षियों में भी नर–मादा मिलकर काम करते हैं, तो स्त्री–पुरुष एक साथ मिलकर काम क्यों नहीं करते। वे ऐसे निकम्मे पुरुषों को धिक्कारती हैं। 'क्या उन्हें मनुष्य कहा जाए?' शीर्षक कविता में उन्होंने इस स्थिति का इस प्रकार वर्णन किया है–

पौ फटने से गोधुली तक, महिला करती श्रम
पुरुष उसकी मेहनत पर जीता है, मुफ्तखोर
पक्षी और जानवर भी मिलकर काम करते हैं
क्या इन निकम्मों को मनुष्य कहा जाए?

सावित्रीबाई फुले अपनी कविताओं में इतिहास की ब्राह्मणवादी व्याख्या को चुनौती देती हैं। वे कहती हैं कि शूद्र ही इस देश के मूलनिवासी और वीर योद्धा थे और यहां के शासक थे। बाद में आक्रामणकारियों ने शूद्र शब्द को अपमानजनक बना दिया। वे 'शूद्र शब्द का अर्थ' कविता में लिखती हैं–

'शूद्र' का असली अर्थ था मूलनिवासी,
भारत किसी का नहीं है,
ना ईरानियों का, ना यूरोपियों का,

ना तातारों का और ना हूणों का,
उसकी नसों में बहता है
यहां के मूलनिवासियों का रुधिर

अपनी कविताओं में सावित्रीबाई फुले इतिहास और मिथकों की ब्राह्मणवादी व्याख्याओं को चुनौती देती हैं। वे 'राजा बली की स्तुति' शीर्षक कविता में बताती हैं कि ब्राह्मणवादी, शूद्रों–अतिशूद्रों के उदार और महान राजा बली के साथ छल करने वाले और धोखे से उनके राज्य छीन लेने वाले वामन का गुणगान करते हैं। वे अपनी कविताओं में कबीर की तरह हिंदू धर्म के ढोंग–पाखंड को भी उजागर करती हैं।

सावित्रीबाई फुले भारतीय पुनर्जागरण की कवयित्री हैं। यूरोपीय पुनर्जागरण के दार्शनिकों ने यह सवाल उठाया था कि मानवीय गरिमायुक्त जीवन किसे कहें? किस जीवन को मानवीय जीवन कहें? किसे पशुवत जीवन कहते हैं? भारत में ब्राह्मणवाद–सामंतवाद ने अधिकांश लोगों के जीवन को पशुवत जीवन बना दिया था। सावित्रीबाई फुले की कविताएं 'इंसान कौन और कौन नहीं है' इसका विस्तृत विमर्श प्रस्तुत करती हैं। 'उसे इंसान कहें क्यों?' शीर्षक कविता में कौन इंसान है, कौन नहीं? किसका जीवन इंसानी है, किसका पशुवत, इस पर प्रश्न उठाती हैं, वे कहती हैं कि जिसके पास ज्ञान नहीं है, शिक्षा नहीं है, उसका जीवन पशुवत है, लेकिन इसके साथ वे यह भी कहती हैं कि यदि कोई व्यक्ति ये दोनों चीजें प्राप्त कर लें, लेकिन उसके आधार पर अपना जीवन न जिए, तो उस व्यक्ति का भी जीवन पशुवत है–

ज्ञान नहीं, विद्या नहीं
पढ़ने–लिखने की इच्छाशक्ति नहीं,
बुद्धि होकर उस पर चले नहीं.
ऐसे व्यक्ति को कैसे इंसान कहें?

रविदास और कबीर की तरह सावित्रीबाई फुले भी श्रम न करने वाले व्यक्ति को इंसान मानने को तैयार नहीं थीं। वे बिना श्रम किए बैठकर खाने वाले निठल्ले व्यक्ति के जीवन की तुलना पशु से करती हैं–

जो करे न जरा श्रम
ज्योतिष पर करे भरोसा
स्वर्ग–नरक के चक्कर में
दिन–रात घिरे फिरे
वैसे तो निठल्ला पशु भी न कोई
उसे भला कैसे इंसान कहें?

फुले, आंबेडकर और पेरियार की तरह सावित्रीबाई के लिए भी आजादी सबसे बड़ा मूल्य थी। शूद्रों–अतिशूद्रों की ब्राह्मणशाही से आजादी। स्त्रियों की पुरुषों के वर्चस्व से आजादी। वे बार–बार अपनी कविताओं में इस तथ्य को रेखांकित करती हैं कि जिस व्यक्ति को गुलामी का दुःख न हो और आजादी की चाहत न हो, उस व्यक्ति को इंसान नहीं कहा जा सकता है–

जिसे न हो गुलामी का दुःख
न हो अपनी आजादी छिनने का मलाल
न आवे कभी समझ इंसानियत का जज्बा
उसे भला कैसे कहें इंसान हम?

सावित्रीबाई फुले की कविताएं आधुनिक चेतना से लैस हैं। आज भी जहां स्त्रियां गहनों के पीछे भागती रहती हैं, उसे अपना आभूषण समझती हैं। इन आभूषणों को पहनकर सुंदर दिखना चाहती हैं। इसके उलट उनकी कविताएं स्त्री का सबसे बड़ा गहना शिक्षा मानती हैं। वे कहती हैं, स्वाभिमान की जिंदगी जीने के लिए एक लड़की के लिए शिक्षा सबसे आवश्यक चीज है। वे लड़कियों का आह्वान करती हैं कि पाठशाला जाओ और खूब पढ़ो–लिखो–

स्वाभिमान से जीने हेतु
बेटियों पढ़ो–लिखो खूब पढ़ो
पाठशाला रोज जाकर
नित अपना ज्ञान बढ़ाओ
हर इंसान का सच्चा आभूषण शिक्षा है
हर स्त्री को शिक्षा का गहना पहनना है
पाठशाला जाओ और ज्ञान लो

आधुनिक भारत का इतिहास इस बात का साक्षी है कि शूद्रा.ं–अतिशूद्रों और महिलाओं की मुक्ति का द्वार आधुनिक शिक्षा ने खोला। जोतिराव फुले, शाहूजी महराज, डॉ. आंबेडकर और पेरियार जैसी महान विभूतियां भी इसी आधुनिक शिक्षा की देन थीं।

जो ठान लिया सो ठान लिया

मैत्रेयी पुष्पा

नारी विद्रोह एक दिन की सृष्टि नहीं है, कई वर्षों से शोषित नारी मानसिकता की कालानुसृत परिणति है। मैत्रेयी के कथा संसार की नारी शोषण के प्रति विद्रोह करने के साथ–साथ अपने ऊपर के बंधनों को तोड़ने का प्रयास करने लगी। मैत्रेयी के उपन्यास और कहानियां इसका सच्चा मिसाल है। लेखिका समकालीन परिवेश और समाज में नारी को जो अत्याचार झेलने पड़े उसके विरोध में अपनी आवाज उठाती हैं।

जय प्रकाश जय (साभारः https://yourstory.com)

मैत्रेयी जी अपने निभीक लेखन और बेबाकबयानी के लिए कभी कथाकार राजेंद्र यादव और हंस के बहाने तो कभी अपने वैवाहिक जीवन और स्त्री–विमर्शों के चलते अक्सर मीडिया की सुर्खियों में आती रहती हैं। वह एक बार जो ठान लेती हैं, सो ठान लेती हैं, फिर चाहे कितना भी विरोध होता रहे। शायद ही कोई लेखिका हो, जो इतने साहस के साथ स्वयं के वैवाहिक जीवन पर इतना मुंहफट रहे...।

वह कहती भी हैं कि लोग तरह–तरह के कमेंट देते हैं, अपनी समझदारी से देते हैं, सहमति–असहमति प्रकट करते हैं। उससे मुझे कोई खास फर्क नहीं पड़ता। अक्सर अपने लेखन और बयानों से विवादों, बात–बेबात में घिर जाने वाली देश की चर्चित हिंदी लेखिका एवं दिल्ली साहित्य अकादमी की उपाध्यक्ष मैत्रेयी पुष्पा का जन्म

30 नवंबर, 1944 को अलीगढ़ के सीकरी गांव में हुआ था। उन्होंने कॉलेज के दिनों से ही लिखना प्रारंभ किया। इनकी पहली कविता बाड़े में काम करने वाली महिलाओं पर थी जिसके कारण इन्हें बहुत परेशानियों का सामना करना पड़ा। वह जिस बाड़े में रहकर पढ़ती थी, अखबार में कविता के छपने के बाद उस बाड़े में रहने वाले लोग उस कविता को पढ़कर उत्तेजित हो गये और इन्हें अपना कमरा खाली करना पड़ा।

वह कभी अकादमी उपाध्यक्ष मनोनीत किए जाने पर सुर्खियों में आ जाती हैं तो कभी अपने वैवाहिक जीवन पर व्यक्त विचारों और कृतियों में स्त्रियों पर साहसिक लेखन के लिए। उनके जीवन का शुरुआती दौर बुंदेलखण्ड में बीता। अब लंबे समय से दिल्ली में रह रही हैं। वह कहती हैं, ''मैंने खुद को कभी पत्नी माना ही नहीं। यह मेरे पति का दुर्भाग्य मानिए कि पत्नी की तरह कभी उनकी सेवा नहीं की, जैसी दूसरी औरतें करती हैं। जैसे कि कहीं जा रहे हैं तो अटैची लगा दी, नहाने जा रहे हैं तो कपड़े रख देती, उनके कपड़े प्रेस करती, यह सब कभी नहीं किया। और पति ने कभी इस बात की शिकायत नहीं की। उन्होंने हमेशा अपना काम कर लिया।'' ''मैंने कभी नहीं पूछा कि तुम कब आओगे तो लोगों को इससे बहुत शिकायत होती है कि वो जाते हैं तो तुम तो पूछ लेतीं कि कब वापस आओगे? पर उनके जाने पर मैं खुद को स्वतंत्र महसूस करती। मैं सोचती कि अब मैं अपने मन का कुछ करूंगी। कुछ अपने मन का करूंगी, कुछ गजल सुनूंगी। उड़ूंगी, चाहे घर में ही उड़ूं। हालांकि पति सोचते थे कि ये क्यों नहीं मानती। वो मुझे उदाहरण भी देते दूसरी स्त्रियों के। मैं कहती थी कि पता नहीं, मैंने तुमसे शादी इसलिये नहीं की। हालांकि मेरा प्रेम विवाह नहीं हुआ था, अरेंज्ड मैरिज थी लेकिन अरेंज्ड मैरिज भी मेरी मर्जी से हुई थी। मैं कहती कि मैं तुमको पति मानकर नहीं आई थी, मैंने तो सोचा था कोई साथी मिलेगा। लेखिका भी नहीं माना अपने आपको। कोई मुझे लेखिका कहता है तो सकुचा जाती हूं।''

मैत्रेयी पुष्पा की प्रमुख कृतियां हैं – स्मृति दंश, चाक, अल्मा कबूतरी, कहैं ईसुरी फाग, बेतवा बहती रही, चिन्हार, इदन्नमम, गुनाह बेगुनाह, कस्तूरी कुण्डल बसै, गुड़िया भीतर गुड़िया, ललमनियाँ तथा अन्य कहानियां, त्रिया हठ, फैसला, सिस्टर, सेंध, अब फूल नहीं खिलते, बोझ, पगला गई है भागवती, छाँह, तुम किसकी हो बिन्नी?, लकीरें, अगनपाखी, खुली खिड़कियां आदि। उनकी कहानी 'ढैसला' पर टेलीफिल्म बन चुकी है। उनके उपन्यासों में देश का अत्यंत पिछड़ा अंचल बुंदेलखंड जीवंत हो उठता है। वह हिंदी अकादमी के साहित्य कृति सम्मान, कहानी 'फैसला' पर कथा पुरस्कार, 'बेतवा बहती रही' उपन्यास पर उ.प्र. हिंदी संस्थान द्वारा प्रेमचंद सम्मान, 'इदन्नमम' उपन्यास पर शाश्वती संस्था बंगलौर द्वारा नंजनागुडु तिरुमालंबा पुरस्कार, म.प्र. साहित्य परिषद द्वारा वीरसिंह देव सम्मान, वनमाली सम्मान आदि से सम्मानित हो चुकी हैं।

मैत्रेयी जी कई बार साहित्यिक हलकों में विवाद का केंद्र बन चुकी हैं। एक बार 'हंस' के संपादक राजेंद्र यादव ने उनकी तुलना 'मरी हुई गाय' से की तो पूरे देश में जमकर बात का बतंगड़ हुआ था। वह कहती भी हैं कि लोग तरह–तरह के कमेंट देते हैं, अपनी समझदारी से देते हैं, सहमति–असहमति प्रकट करते हैं। उससे मुझे कोई खास फर्क नहीं पड़ता। सन् 2010 में एक बार महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय विश्वविद्यालय वर्धा के तत्कालीन कुलपति और लेखक विभूति नारायण राय की हिंदी लेखिकाओं पर दो अखबारों में एक टिप्पणी छपी जिसमें विभूति राय की ओर से कहा गया कि ''हिंदी लेखिकाओं में एक वर्ग ऐसा है, जो अपने आप को बड़ा 'छिनाल' साबित करने में लगा हुआ है। पिछले कुछ वर्षों में कुछ महिला लेखिकाएं ये मान के चल रही हैं कि स्त्री मुक्ति का मतलब स्त्री के देह की मुक्ति है। हाल में कुछ आत्मकथाएं भी आई हैं, जिनमें होड़ लगी है कि कौन सबसे बड़ा इन्फेडेल है। यह गलत है।'' इस पर मैत्रेयी पुष्पा का वक्तव्य आया था कि ''हम महिलाओं के सम्मान के लिए बड़ी लंबी लड़ाई लड़कर यहां पहुंचे हैं, लेकिन इस तरह के पुरुष हमें गालियां देते हैं, एक पत्थर मारते हैं और सब पर कीचड़ फैला देते हैं। इसमें क्या संकीर्ण है कि अगर औरतें अपनी जिंदगी अपने मुताबिक जीना चाहती हैं, घर से बाहर निकलना चाहती हैं। आपसे बर्दाश्त नहीं होता तो हम क्या करें,

पर आप क्या गाली देंगे?''

मैत्रेयी जी पहली ऐसी महिला लेखिका मानी जाती हैं जिसने अपनी कृतियों में गांव की स्त्री की व्यथा को पूरी गहराई से जाना, समझा और व्यक्त किया। वह कहती हैं, ''शादी से पहले मैं ऐसी लड़की थी जिसके पास खाने के लिये रोटी भी नहीं थी, रहने के लिये घर नहीं था, पढ़ने के लिये साधन नहीं थे। आदमी सारी उम्र भूल जाता है लेकिन बचपन नहीं भूलता। तो बचपन ऐसी निश्छल चीज है जो अभी तक याद है। बचपन विपन्नता में गुजरा, संकटों में गुजरा।

वही सब मेरे साथ था, जिसे मैं साहित्य में ले आई। वही सब आज भी मुझे उनसे जोड़े हुए है। मुझे किसी भी क्षेत्र में, देश के किसी भी इलाके में भेज दीजिए, मैं बहुत खुश रहूंगी और वहां जैसे मैंने बचपन काटा, वैसे ही लोगों से जुड़कर फिर कुछ लिखना चाहूंगी। असल में पहले तो मुझे यह भी नहीं पता था कि जो मैं लिखूंगी वह छप भी जायेगा, जैसा कि हर लेखक को लगता है। मैं बार–बार कहती हूं कि मेरी बड़ी बेटी है, उसने कहा कुछ लिखो। तुम हमारे लिये लिखतीं थीं तो कुछ इनाम–विनाम मिल जाते थे। अपने नाम से लिखो। तो मैंने उससे यह कहा था कि बेटा मेरा नाम क्या है? मैं तो नाम भी भूल गई। मैं तो मिसेज शर्मा हूं। डाक्टर आर.सी.शर्मा की वाइफ। इसके सिवा मुझे कुछ याद नहीं। तो उस वक्त मैं इस अवस्था में थी। बच्चियों के कहने से मैंने कहानी लिखी। मुझे नहीं पता था कि वह छपेगी भी या नहीं। वह छपी भी नहीं।'' वे लिखती हैं, ''मैं पढ़ती भी थी लेकिन पढने की एक और विडम्बना मेरे साथ थी कि जब मैं किसी की कहानी पढ़ती थी, मान लो मैं धर्मयुग या साप्ताहिक हिंदुस्तान में किसी की कहानी पढ़ रही हूं, उसके समानान्तर मेरे मन में कोई कहानी चलने लगती थी। मैं इससे इतनी परेशान हो जाती थी कि पढ़ना छोड़ देती थी और अपने मन की कहानी कहने लगती थी। इस तरह दूसरे की कहानी को भी एक प्रेरणा कह सकते हैं। मैं उस समय इस अवस्था में थी कि यह जानते हुये भी कि यह कहानी छपेगी नहीं मैंने कहानी लिखी। कहानी छपी नहीं लेकिन मैंने हिम्मत नहीं हारी। जैसा कि नये लेखक करते हैं कि एक बार कहानी नहीं छपी तो निराश हो जाते हैं कि हम फिर कभी नहीं लिखेंगे। मैंने सोच लिया था कि बच्चों ने कहा है तो अब मैं यह नहीं करूंगी कि नहीं छपी तो नहीं लिखूंगी। फिर मैंने लिखी कहानी। वह नहीं छपी तो फिर लिखी। फिर–फिर लिखी। एक कहानी 'साप्ताहिक हिंदुस्तान' में छप गई। जब एक बार छप गई तो लिखना शुरू हो गया। यह भी बहुत जरूरी है किसी लेखक के लिये उसका एकबार छप जाना।

नारी विद्रोह एक दिन की सृष्टि नहीं है कई वर्षों से शोषित नारी मानसिकता की कालानुसृत परिणति है। मैत्रेयी के कथा संसार की नारी शोषण के प्रति विद्रोह करने के साथ–साथ अपने ऊपर के बंधनों को तोड़ने का प्रयास करने लगी। मैत्रेयी के उपन्यास और कहानियां इसका सच्चा मिसाल है। लेखिका समकालीन परिवेश और समाज में नारी को जो अत्याचार झेलने पड़े उसके विरोध में अपनी आवाज उठाती हैं। नारी जीवन के विभिन्न पहलुओं की भीषणता को अनावृत करने में मैत्रेयी अपने कथा साहित्य द्वारा समर्थ हुई हैं। मैत्रेयी पुष्पा का उपन्यास 'कस्तूरी कुण्डल बसै' केवल उपन्यास ही नहीं उनकी आत्मकथा भी है। और दूसरे शब्दों में कहा जाए तो सिर्फ आत्मकथा ही नहीं, एक फिक्शन भी है। 'कस्तूरी कुण्डल बसै' के बारे में यह तीनों बातें सच हैं, लेकिन अधूरा सच। दरअसल, यह पुस्तक मैत्रेयी पुष्पा की रचनाशीलता का ऐसा प्रयोगधर्मी प्राकट्य है जो पाठकों को एक लेखिका की जीवन शैली, उसके संबंध, सरोकार और संघर्षों की दास्तान बड़ी रोचकता से बताता है। इसमें आरंभ से अंत तक उनके लेखन का आकर्षण पाठकों को बाँधे रखता है।

अमृता प्रीतम

अधूरी मोहब्बत का अफसाना

जे.पी. यादव (साभार: www.jagran.com)

देश–दुनिया की चर्चित लेखिका अमृता प्रीतम का व्यक्तित्व ही रहस्य से भरा हुआ है। रीति–रिवाज से एक विधिवत शादी फिर अलगाव, एक शायर से एकतरफा प्यार और बिना शादी एक शख्स के साथ जीवन गुजारना, इतना उतार चढ़ाव कम ही लोगों की जिंदगी में आता है। अमृता प्रीतम इन्हीं उतार–चढ़ाव भरी जिंदगी जीने वाली शख्सियत थीं, जिनके लेखन ने साहित्य जगत को नया आयाम दिया। कुल मिलाकर पाठक अमृता प्रीतम के बारे में जितना पढ़ेगा उतना ही रहस्य गहराता जाएगा।

पाकिस्तान के गुजरांवाला में 31 अगस्त, 1919 को जन्मीं अमृता प्रीतम ने हर विषय पर कलम चलाई है। बंटवारे के बाद भारत पाकिस्तान के बीच खिंची तलवारों ने कितने जिस्म छलनी किए और कितनी रूहों को प्यासा रख छोड़ा, यह जानने के लिए अमृता प्रीतम का उपन्यास 'पिंजर' ही काफी है। देश के बंटवारे पर यशपाल के 'झूठा–सच' और भीष्म साहनी के 'तमस' के अलावा कोई उपन्यास मन पर गहरी छाप छोड़ता है तो वह है अमृता प्रीतम की रचना 'पिंजर'। इसी उपन्यास से प्रभावित होकर फिल्म निर्माता–निर्देशक चंद्र प्रकाश द्विवेदी ने 'पिंजर' नाम से

एक बेहतरीन फिल्म बनाई है। लेखक हमेशा अपने साहित्य में पाठकों को इंसानियत के दर्द, उसकी तकलीफों और खुशियों से रू–ब–रू कराता है और उसका अंजाम भी प्रस्तुत करता है। पिंजर उपन्यास में अमृता प्रीतम के लेखन से ऐसा लगता है, जैसे सारी घटनाएं उनकी आंखों के सामने गुजरी हैं। इसमें वह अंत में इंसानियत और रिश्ते की मर्यादा का भी चित्रण करती हैं, जिसमें एक खलनायक के प्रति भी पाठकों के मन में कोई खटास नहीं रहती है। पूरो/हमीदा और रशीद के नफरत से शुरू हुई जिंदगी को मोहब्बत के अंजाम तक पहुंचाने की कूबत शायद अमृता प्रीतम के पास थी। पूरो भी रशीद में बदलाव को शिद्दत से महसूस करती है और हकीकत को स्वीकार करती है।

साहित्यिक अभिरुचि का वह छात्र वास्तव में बेहद बदनसीब होगा, जिसने अमृता प्रीतम का कालजयी उपन्यास 'रसीदी टिकट' नहीं पढ़ा होगा। अमृता प्रीतम की लेखनी पाठकों को चुंबक की तरह खींचती है और वह इस महान लेखिका की रचनाओं का आदी हो जाता है। अमृता प्रीतम का उपन्यास 'रसीदी टिकट' पढ़ते हुए पाठक कई अनुभवों से गुजरता है। कभी वह साहिर बनकर अमृता प्रीतम को चाहने वाला बन जाता है तो कभी इमरोज जैसा आशिक।

इमरोज वह शख्स है जो आम पाठक की तरह ही जानने और समझने की कोशिश में जीवन गुजार रहा है कि अमृता आखिर क्या बला थी। 'मुझे अमृता चाहिए' नाटक का मंचन जब भी होता है तो बुलावे पर वही तड़प लेकर इमरोज आते हैं। वह नाटक देखते और सराहते हैं।

अपने शानदार गीतों के जरिये मिलन–जुदाई को खूबसूरती से बयां करने वाले मशहूर शायर साहिर लुधियानवी और अमृता प्रीतम की मोहब्बत को समझना आज भी नामुमकिन सा है। 20वीं सदी में ऐसे नाकाम रिश्ते की कल्पना से भी मन सिहर जाता होगा। दरअसल, साहिर और अमृता के बीच जिस्मानी रिश्ता कभी रहा नहीं और रुहानी रिश्ता आम आदमी की समझ से परे है। यही वजह है कि दोनों के बीच रिश्ते और मोहब्बत, पाठक के लिए पहेली हैं तो आम आदमी के लिए समझ से परे। 31 अक्टूबर, 2005 को जिंदगी को अलविदा कहने से पहले अमृता प्रीतम ने उपन्यासों, कविताओं और खतों में वह लिख डाला, जो किसी आम भारतीय महिला के लिए 21वीं सदी के अंत में भी संभव न होगा।

महज 16 वर्ष में यानी 1935 में अमृता की शादी लाहौर के कारोबारी प्रीतम सिंह से हुई। अमृता प्रीतम ने कभी स्वीकार नहीं किया कि प्रीतम से मोहब्बत भी हुई, लेकिन अमृता ने प्रीतम नाम जरूर ले लिया। प्रीतम सिंह और अमृता प्रीतम के 2 बच्चे भी हुए, लेकिन दोनों के बीच क्या था? यह तो अमृता के मन में था या प्रीतम के जेहन में.. आखिरकार अमृता ने ही 1960 में पति प्रीतम सिंह को छोड़ दिया।

अमृता और साहिर में बहुत सी चीजें समान थीं। साहित्यिक अभिरुचि तो थी ही, लेकिन एक तन्हाई दोनों में थी जिससे वह करीब आए। यह सच है और जिसे दुनिया के साथ लेखिका अमृता प्रीतम भी मानती हैं कि उन्हें मशहूर गीतकार साहिर लुधियानवी से प्रेम हुआ। कहा जाता है कि साहिर की जिंदगी में एक महिला के आने से दोनों एक–दूजे के नहीं हो सके। कयास लगाए जाते रहे कि वह महिला एक गायिका थी और धर्म जुदा होने से साहिर शादी न कर सके या कहें हो ना सकी। ''..मैं जानता हूं कि तू गैर है मगर यू हीं... कभी–कभी मेरे दिल में ख्याल आता है।'' अमिताभ बच्चन, राखी अभिनीत 'कभी–कभी' फिल्म का गीत सुनकर बहुत कुछ अंदाजा लग जाता है कि वह अमृता प्रीतम तो नहीं हैं क्योंकि वह तो साहिर पर फिदा थीं। हैरत की बात है कि साहिर से अमृता प्रीतम जहनी प्यार करती थीं। खैर साहिर न तो करीब आ सके और न दूरी बना सके, ऐसे में चित्रकार व लेखक इमरोज आए जिन्हें अमृता से प्रेम हुआ। यह भी कहा जाता है कि अमृता प्रीतम इमरोज की पीठ पर साहिर का नाम अपनी अगुंलियों से लिखती थीं। यह भी हैरत है कि अपनी पीठ पर अमृता साहिर का नाम लिख रही हैं, यह जानकर भी इमरोज खामोश रहते थे। अमृता, साहिर और इमरोज के रिश्ते पर लेखिका अक्सर कहती थीं ''साहिर मेरी जिंदगी के लिए आसमान हैं और इमरोज मेरे घर की छत''।

जो लिव इन आज भारतीय युवाओं के फैशन बन गया है, वह अमृता के लिए जीने का अंदाज था। वह आजादी का एक अंदरूनी अहसास था, जिसे उन्होंने दिल खोलकर और बेपरवाह हो कर जिया। अमृता तकरीबन 4 दशक तक इमरोज के साथ बिना शादी के रहीं। यह भी जान लें कि अमृता और इमरोज के बीच उम्र में सात साल का फासला था। दुनिया को विदा कहने से पहले यानी 31 अक्टूबर, 2005 से कुछ समय पहले अमृता ने अंतिम नज्म लिखी 'मैं तुम्हें फिर मिलूंगी', जो सिर्फ इमरोज के लिए थी। कहा जाता है कि शायद साहिर से अलगाव के बाद अमृता ने इमरोज के साथ 40 साल बिना शादी किए साथ बिताए। अपनी आत्मकथा 'रसीदी टिकट' की भूमिका में अमृता लिखती हैं–''मेरी सारी रचनाएं, क्या कविता, क्या कहानी, क्या उपन्यास, सब एक नाजायज बच्चे की तरह हैं। मेरी दुनिया की हकीकत ने मेरे मन के सपने से इश्क किया और उसके वर्जित मेल से ये रचनाएं पैदा हुईं।''

अमृता प्रीतम ने अपने साहित्यिक जीवन में 100 से अधिक पुस्तकें लिखीं। अपनी रचनाओं और साहित्य में योगदान के लिए उन्हें कई पुरस्कारों से भी सम्मानित किया जा चुका हैं, जिनमें 'साहित्य अकादमी पुरस्कार', 'ज्ञानपीठ पुरस्कार' व 'पद्मश्री' अहम हैं। अमृता प्रीतम पहली महिला थीं जिन्हें वर्ष 1956 में अपने काव्य संग्रह "सुनेहदे" के लिए साहित्य अकदामी पुरस्कार मिला था। इसके साथ ही वह पहली पंजाबी महिला थीं, जिन्हें 1969 में पद्मश्री अवार्ड से सम्मानित किया गया।

मन्नू भंडारी

परंपरा की देह और आधुनिकता की आत्मा

प्रियदर्शन (साभार: https://ndtv.in)

मन्नू भंडारी का उपन्यास 'आपका बंटी' मैंने लगभग छलछलाती आंखों से पढ़ा था। ये मेरे किशोर दिनों की बात है। मां–पिता के टकराव के बीच फंसे बंटी की कथा बहुत सारे लोगों को रुलाने वाली थी। बाद के वर्षों में कई बार यह पढ़ने को मिला कि इस उपन्यास ने कई घरों को टूटने से बचाया, दंपतियों के बीच के तलाक स्थगित कराए। यह अनायास नहीं था कि आपका बंटी हिंदी के सर्वाधिक बिकने वाले उपन्यासों में रहा। इत्तिफाक से उसी के आसपास मैंने राजेंद्र यादव का 'सारा आकाश' भी पढ़ा। यह भी वैसी ही लोकप्रिय कृति साबित हुई। लेकिन 'आपका बंटी' ने मुझे जितना जोड़ा या तोड़ा, 'सारा आकाश' ने नहीं। शायद इसलिए भी कि मूलतः मेरी कच्ची–किशोर संवेदनाएं बंटी की छटपटाहट से कहीं ज्यादा जुड़ती थीं, सारा आकाश के संवादहीन पति–पत्नी की विकलता–व्याकुलता से नहीं। इसके बाद कभी मैंने 'एक इंच मुस्कान' पढ़ी– राजेंद्र यादव और मन्नू भंडारी की साझा औपन्यासिक कृति। इस उपन्यास में भी मुझे मन्नू भंडारी का हिस्सा ज्यादा सहज, तरल और प्रवाहपूर्ण लगता रहा। बल्कि इस उपन्यास की भूमिका में राजेंद्र यादव ने माना कि उनको अपना हिस्सा लिखने में खासी मशक्कत करनी पड़ती

थी जबकि मन्नू भंडारी बड़ी सहजता से अपना अंश पूरा कर लेती थीं। शायद राजेंद्र यादव की किस्सागोई की राह में उनकी अध्ययनशीलता और उनका वैचारिक चौकन्नापन आड़े आते होंगे (हालांकि जिस दौर में यह कथाएं लिखी जा रही थीं, उस दौर में राजेंद्र यादव का वह मूर्तिभंजक व्यक्तित्व सामने नहीं आया था जो बाद के वर्षों में 'हंस' के संपादक के तौर पर उनमें दिखता रहा और जिसकी वजह से स्त्री विमर्श और दलित विमर्श को उन्होंने लगभग हिंदी साहित्य के केंद्र में ला दिया।)

हालांकि इसका मतलब यह नहीं कि मन्नू भंडारी अध्ययनशील नहीं रहीं या उनमें वैचारिक चौकन्नापन नहीं रहा। उनका कथा–लेखन दरअसल यह बताता था कि मन्नू भंडारी अध्ययन से ज्यादा अनुभव को महत्व देती थीं और वैचारिक चौकन्नापन उनके लिए कहीं से उधार लिया हुआ अभ्यास नहीं था, बल्कि अपने अनुभव संसार से परखा गया एक निष्कर्ष था जो उनकी कहानियों में बड़ी खूबसूरती से खुलता था। यह भी एक वजह है कि वे सहज और लोकप्रिय कथाकार रहीं। उनको जितने पाठक मिले, उतने आलोचक नहीं मिले। इस ढंग से देखें तो लगता है कि हिंदी आलोचना ने एक कथाकार के तौर पर उनकी उपेक्षा की। उनकी लगभग समकालीन कृष्णा सोबती को उनसे कहीं ज्यादा पुरस्कार मिले और आलोचकों का प्यार भी। शायद इसलिए भी कि कृष्णा सोबती के भीतर एक आक्रामक स्त्रीवाद दिखाई पड़ता था जो मुखर भी था और अपनी मुखरता में लुभावना भी। उन पर वैचारिक तौर पर रीझना आसान था। 'मित्रो मरजानी' या 'डार से बिछुड़ी' की नायिकाओं में जो विद्रोही तेवर हैं (यह बहसतलब है कि सिर्फ तेवर हैं या वास्तविक विद्रोह भी) वे बहुत आसानी से कृष्णा सोबती को स्त्रीवाद के प्रतिनिधि लेखक के रूप में पढ़े जाने में मददगार होते हैं। लेकिन मन्नू भंडारी की कहानियां ऊपर से जितनी सरल हैं, भीतर से उतनी ही जटिल भी। उनको पढ़ते हुए भ्रम होता है कि वे परंपरा का पोषण कर रही हैं, जबकि सही बात यह है कि पारंपरिक दिखने वाली उनकी नायिकाएं अपनी आधुनिकता का अपने ढंग से संधान करती हैं। इसकी मिसाल उनकी बहुत प्रसिद्ध कहानी 'यही सच है' है, जिस पर 'रजनीगंधा' जैसी फिल्म बनी। इस कहानी में पहली बार हमारे सामने एक लड़की है जिसे दो लड़कों के बीच अपने प्रेम को लेकर चयन की दुविधा है। इसके पहले हिंदी साहित्य और सिनेमा दो लड़कियों के बीच नायकों के चुनाव की कशमकश पर तो कहानियां बुनते हैं, लेकिन पहली बार मन्नू भंडारी अपनी नायिका को यह आजादी देती हैं कि वह अपने वर्तमान और पूर्व प्रेमियों में किसी एक को चुन सके। अच्छी बात यह है कि मन्नू भंडारी की कहानी में यह बात किसी आरोपित विचार की तरह नहीं आती, वह उनके भीतर की कशमकश से, उनके भीतर के द्वंद्व से उभरती हैं। मन्नू भंडारी के यहां पहली बार वे कामकाजी स्त्रियां दिखती हैं जो अपने स्त्रीत्व का मोल भी समझती हैं और उसको लेकर चले आ रहे पूर्वग्रहों को तोड़ने की अहमियत भी। साहित्य में दैहिक शुचिता की बहस पुरानी है और देह को अपनी संपत्ति मानने या यौन मुक्ति को स्त्री मुक्ति बताने तक का विचार भी लगातार सुर्खियों में रहा है– इस थीम पर लिखने वाले लेखक विद्रोही माने जाते रहे हैं और बाद के वर्षों में राजेंद्र यादव अपने इस विचार को लेकर कुछ बदनाम भी हुए, लेकिन दिलचस्प यह है कि यह मन्नू भंडारी हैं जो बिना किसी क्रांतिकारी मुद्रा के इस दैहिक शुचिता की अवधारणा

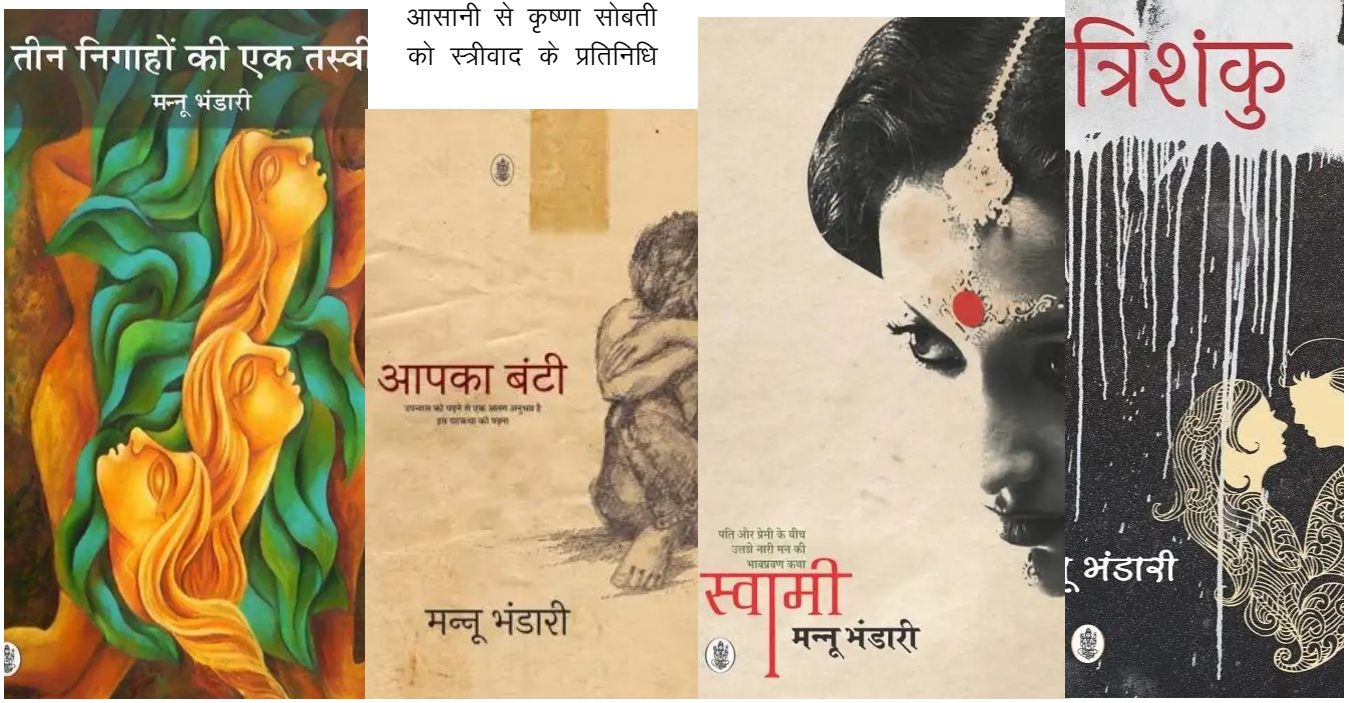

की धज्जियां उड़ा देती हैं। उनकी कहानी 'गीत का चुंबन' की नायिका कणिका एक कवि निखिल के करीब आती है। किसी भावावेश के क्षण में निखिल कणिका को चूम लेता है। तिलमिलाई कणिका उसे थप्पड़ मार देती है। निखिल शर्मिंदा सा लौट जाता है। यह पश्चाताप उसका पीछा नहीं छोड़ता और एक हफ्ते बाद वह कणिका को चिट्ठी लिखकर अपने कृत्य के लिए माफी मांगता है। उसके शब्द हैं, ''मुझे अफसोस है कि मैंने तुम्हें भी उन साधारण लड़कियों की कोटि में ही समझ लिया, पर तुमने अपने व्यवहार से सचमुच ही बता दिया कि तुम ऐसी–वैसी लड़की नहीं हो। साधारण लड़कियों से भिन्न हो, उनसे उच्च, उनसे श्रेष्ठ''। लेकिन निखिल को पता नहीं है कि जैसे पश्चाताप उसका पीछा नहीं छोड़ रहा, वैसे चुंबन की स्मृति भी कणिका का पीछा नहीं छोड़ रही। उसके भीतर कहीं फिर से उस अनुभव को दुहराने की चाहत है। कहानी जहां खत्म होती है वहां कनिका गुस्से में उस पत्र को टुकड़े–टुकड़े कर फेंक रही है– ''साधारण लड़कियों से श्रेष्ठ, उच्च! बेवकूफ कहीं का– वह बुदबुदाई और उन टुकड़ों को झटके के साथ फेंक कर तकिए से मुंह छुपा कर सिसकती रही, सिसकती रही...'' अगर ठीक से देखें तो यह कहानी उसी दौर में बेहद प्रसिद्ध हुए धर्मवीर भारती के उपन्यास 'गुनाहों का देवता' के सुधा और चंदर के प्रेम को कहीं ज्यादा ठोस धरातल देती है, उससे आगे चली जाती है। मन्नू भंडारी की कहानियां गुनाहों के देवताओं की नहीं, पश्चात. ाप करते इंसानों की कहानियां हैं।

बेशक, मन्नू भंडारी की अपनी सीमाएं रही होंगी– आला. चकों को कई ढंग से वे अनाकर्षक और अनुपयुक्त लगती रही होंगी। मूलतः मध्यवर्गीय जीवन के अभ्यास और विन्यास से निकला उनका कथा संसार न मार्क्सवादी आलोचकों के काम का था जो इसे बूर्जुवा मुहावरे की हिकारत के साथ देखते होंगे और न उन आधुनिकतावादियों की समझ में समाता था जिनके लिए विद्रोह बिल्कुल जीवन शैली का हिस्सा लगे, जो परिधानों में, संवादों में और आदतों में दिखे।

लेकिन क्या मन्नू भंडारी ने इस मध्यवर्गीयता का अतिक्रमण नहीं किया? मन्नू भंडारी 'महाभोज' जैसा उपन्यास लिखकर अपने समय के कई लेखकों से आगे दिखाई पड़ती हैं. उपन्यास के एक दलित नायक को जहर देकर मार दिया जाता है तो दूसरे नायक को जेल में डाल दिया जाता है। निस्संदेह यह उपन्यास दलित अनुभव को नहीं रखता, लेकिन इस उपन्यास में लगभग गिद्धवत होती भारतीय राजनीति में दलितों के इस्तेमाल और उत्पीड़न का जो आख्यान वह रचती हैं, वह उन्हें अपनी तरह की अचूक समकालीनता देता है। यह अनायास नहीं है कि बाद के वर्षों में भारतीय रंगमंच पर इसे बार–बार एक उत्तेजक अनुभव की तरह खेला जाता रहा।

इस बात को भी याद करना जरूरी है कि मन्नू भंडारी अपने समकालीन लेखकों को प्रसिद्धि और रचनात्मकता में लगभग बराबर की टक्कर देती रहीं। अपने पति राजेंद्र यादव के अलावा मोहन राकेश, कमलेश्वर, धर्मवीर भारती, निर्मल वर्मा और भीष्म साहनी जैसे कथाकारों के बीच संभवतः वे अकेली थीं जो इनके पाये में मानी जाती थीं और यह पात्रता उन्होंने बस अपनी कहानियों और पाठकों के बीच उनकी लोकप्रियता के बूते हासिल की थी।

क्या इत्तिफाक है कि बीसवीं सदी के तीसरे–चौथे दशकों के बीच भारतीय भाषाओं की कई बड़ी लेखिकाएं सामने आती हैं। उर्दू की इस्मत चुगतई, पंजाबी की अमृता प्रीतम, बांग्ला की महाश्वेता देवी, उर्दू की ही कुर्तुलऐन हैदर और हिंदी की कृष्णा सोबती– सब जैसे एक ही दशक के आसपास की संतानें हैं। निस्संदेह इस सूची में उम्र में सबसे छोटी मन्नू भंडारी सबके बीच और सबसे अलग दिखती हैं। उनका जाना याद दिलाता है कि अब बीसवीं सदी के लेखकों की वह पीढ़ी चली गई जिस पर भारतीय भाषाएं गुमान करती थीं और जिसकी विपुल संपदा हमारे लिए अब भी एक थाती है।

Sudha
Milk and Milk Products
वादा शुद्धता का

Empowering Women through Dairy Co-operatives

India is a leading dairy economy with a vast number of milk producers organized into mixed-gender cooperatives. **COMFED** also undertakes supportive activities of Milk Producers for income and social security which includes 4258 Women Dairy Co-operatives exclusively run by women.

COMFED giving them opportunities to emerge as leaders in taking decisions and to participate in day-to-day dairy activities to make a positive change in their lives and to their families.

Supportive Programmes & Benefits:

- **Sat Nischay-2**, an ambitious scheme of the State Government under **"Aatamnirbhar Bihar 2020-25"** with an objective to improve access to Milk Co-operatives and provide good quality Sudha Products
- Provides Balanced Cattle feed
- Artificial Insemination Programme & inclusion in Management Committee
- Cattle Insurance, Cattle Purchase on Subsidy & Vaccination
- Assistance in installation of Biogas Plant
- Around 13 lakh families are benefitted

COMFED

BIHAR STATE MILK CO-OPERATIVE FEDERATION LTD.

E-mail: comfed.patna@gmail.com • Toll Free No.: 18003456199 • www.sudha.coop

Dairy Entrepreneurship - Empowering women, empowering life

Dot Communications_Comfed_Women Empowerment_Magazine Ad_Size A4

भक्ति आंदोलन में दिखी पीड़ा

अक्कामहादेवी

मीराबाई

''वेद रो रहे हैं, पुराण
चीख रहे हैं,
स्त्रियों के लिए कुछ भी
अच्छा नहीं होने वाला है,
मैं स्त्री शरीर के साथ
जन्मी
फिर मैं सत्य को कैसे पा
सकती हूं?
वे मूर्ख, मोहक और छल
करने वाली हैं
स्त्रियों के साथ संबंध
रखना विनाशकारी है।''
(बहिनाबाई की पंक्तियां)

अक्कामहादेवी : 12वीं शताब्दी में दक्षिण कर्नाटक से ताल्लुक रखने वाली शिव की भक्त अक्कामहादेवी को विद्रोही संत माना जाता है। उस दौर में जब महिलाओं का घर से बाहर निकलना भी अच्छा नहीं माना जाता था, महादेवी ने शिव की भक्ति में खुद को सराबोर कर दिया था। वे पुरुष संतों की भांति ही निर्वस्त्र रहती थीं और वनों में घूमा करती थीं। उनकी कविताओं में समाज की प्रथाओं का बहिष्कार और अपनी भूमिका के प्रति गहरा रोष नजर आता था। अपनी कविताओं में उन्होंने शिव को चेन्नामल्लिकार्जुन का नाम दिया है।

जनाबाई : जनाबाई का जन्म 13वीं शताब्दी में महाराष्ट्र के एक शूद्र परिवार में हुआ था। बहुत ही कम उम्र में उनके माता–पिता ने उन्हें उच्च जाति के नामदेव के यहां घरेलू काम–काज के लिए भेज दिया था। नामदेव तब भक्ति कवियों का बड़ा नाम थे। वहां रहते हुए जनाबाई न केवल नामदेव की नौकरी करती रहीं बल्कि वे उनकी बड़ी भक्त भी हो गईं। कालांतर में वे स्वयं कविता लेखन करने लगीं और उन्होंने करीब 300 से अधिक कविताओं की रचना की। उन्होंने भी अपनी कविताओं में ईश्वरीय साधना के माध्यम से स्त्री की पीड़ा को दर्शाया था। एक निम्न जाति की स्त्री होने के कारण उन्हें जिस सामाजिक उपेक्षा का सामना करना पड़ा था वो उनकी कविताओं में साफ दिखाई देता था।

मीराबाई : भक्ति आंदोलन से लेकर आज तक जिस महिला भक्त और कवयित्री ने आम लोगों में से ज्यादा लोकप्रियता पाई वो मीराबाई हैं। राजपूताने में जन्मीं मीराबाई को कृष्ण के प्रति अटूट भक्ति और उनकी रचनाओं के लिए जाना जाता है। उन्होंने कृष्ण को ही अपना पति माना था और दिन–रात उनकी ही धुन में रमी रहती थीं। कथाओं के मुताबिक, मीरा को उनकी इच्छा के विरुद्ध एक राजघराने में बहुत छोटी आयु में ब्याह दिया गया था। यूं तो उनकी रचनाओं को कृष्णप्रेम के रूप में देखा जा सकता है लेकिन ध्यान दें तो पाएंगे कि मीरा ने उनमें अपनी उपेक्षा और स्त्री होने के नाते उनकी इच्छाओं का दमन किये जाने के बारे में बताया है। मीरा के पति ने ईर्ष्यापूर्वक मीरा को जहर देकर मारने की कोशिश की थी। उनकी ननद ने भी मीरा के खिलाफ षडयंत्र रचा था क्योंकि मीरा संत बनना चाहती थीं। मीरा ने लिखा है कि कैसे उन्हें एक राजघराने की परंपरा के विरुद्ध जाने के कारण प्रताड़ित किया गया। बाद में विद्रोह कर जब वे वृंदावन पहुंची तो वहां भी उन्हें स्वीकार नहीं किया गया।

बहिनाबाई : 17वीं शताब्दी की इस महिला संत का नाम भी विठोबा यानी कृष्ण की भक्त के रूप में लिया जाता है। महाराष्ट्र में जन्मीं बहिनाबाई, जिन्हें लोग 'बहिना' भी कहते हैं, ने महिलाओं की पीड़ा को अपनी कविताओं के माध्यम से दिखाया था। उनकी कविताएं मुख्य रूप से आत्मकथात्मक होती थीं और उनमें उनके बाल्यकाल तथा विवाहित जीवन की कथाएं होती थीं। उनके पति को भी उनके इस प्रकार के व्यवहार से शिकायत थी और विशेषकर तुकाराम के प्रति उनकी भक्ति के वे खिलाफ थे। यद्यपि कि बहिनाबाई विठोबा के प्रेम में डूबी थीं, तथापि उनमें अपने सांसारिक पति के लिए भी उतना ही समर्पण था। बहिनाबाई ब्राह्मण परिवार से थीं लेकिन नीची जाति के संत तुकाराम के प्रति उनकी भक्ति के कारण वे अक्सर विवादों में आ जाती थीं।

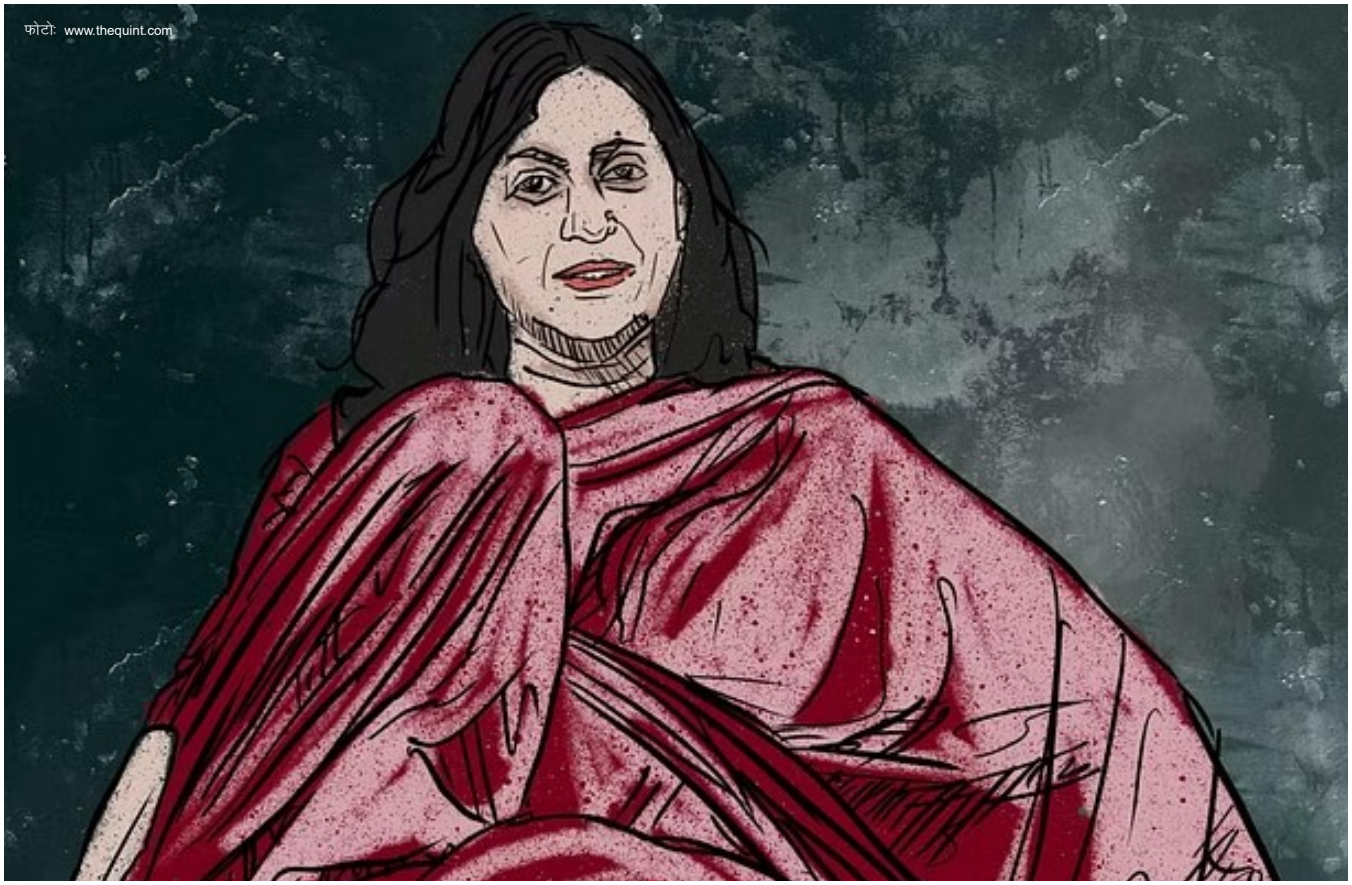

कमला दास

वो विद्रोहिणी, जिसने सनसनी मचा दी

कमला दास, अंग्रेजी की जानी मानी कवियित्री और लेखिका थीं, लेकिन ऐसी विद्रोही महिला, जिन्होंने अपने विचारों से सनसनी मचा दी थी। उन्होंने जिस तरह हिन्दू धर्म की कुरीतियों और महिलाओं की स्थिति को लेकर प्रहार किए, उससे दक्षिणपंथी संगठन बहुत आहत हुए। बाद में जब 65 साल की उम्र में उन्होंने मुस्लिम धर्म अपनाया तो पूरा देश सन्न रह गया।

कमला दास हिन्दू घर में पैदा हुईं। उनका नाम माधवी कुट्टी था, लेकिन अंग्रेजी साहित्य में उनकी पहचान बनी कमला दास के रूप में। 1999 में उन्होंने जब अपना धर्म बदला, तो इससे बड़ा विवाद हुआ। हालांकि इससे भी ज्यादा सनसनी वह आत्मकथा माई स्टोरी से पहले भी मचा चुकी थीं। जब उन्होंने मुस्लिम धर्म अपनाया और जो टिप्पणियां कीं, उससे कई संगठन बहुत कुपित हुए। उनके खिलाफ उग्र धरना प्रदर्शन होने लगे। उन्हें पुलिस सुरक्षा लेनी पड़ गई। कनाडा के लेखक मेरिल वीजबोर्ड ने अपनी किताब 'लव क्वीन ऑफ मालाबार' में लिखा कि उन्होंने धर्म इसलिए बदला क्योंकि उन्हें एक मुस्लिम नेता से प्यार हो गया था। उन्होंने उससे शादी के लिए धर्म बदला और वो सुरैया बन गईं लेकिन वो मुस्लिम नेता फिर पीछे हट गया।

कमला दास पर आमी नाम से एक फिल्म भी बनाने की घोषणा हुई लेकिन उससे पहले ही ये विवादों में घिर गई। मामला केरल हाईकोर्ट

में है। आरोप है कि फिल्म में लव जेहाद को उचित ठहराया जा रहा है। पहले विद्या बालन इसमें काम करने वाली थीं लेकिन शूटिंग से पांच दिन पहले ही ये कहकर फिल्म छोड़ दी कि उन्हें कमला दास के बारे में ज्यादा कुछ मालूम नहीं और वो डायरेक्टर के दृष्टिकोण से भी सहमत नहीं।

आजादी से पहले के दौर में कमला दास को महिलाओं के हक उठाने वाली लेखिका के रूप में माना जाता है। वह मलयालम के साथ अंग्रेजी में लिखने में सिद्धहस्त थीं। अपने मलयालम पाठकों के लिए वो माधवी कुट्टी के नाम से लिखती थीं तो अंग्रेजी में कमला दास के रूप में। खासकर देश में कविता के क्षेत्र में उनका योगदान गजब का है। उन्हें आधुनिक भारतीय अंग्रेजी कविताओं की मां भी कहा जाता है। विदेशों में उन्हें पसंद करने वालों की तादाद खासी है।

कमला मालाबार में उस घर से ताल्लुक रखती थीं, जिसकी लिटरेरी परिवार के रूप में पहचान थी। उनकी मां बालामनी अम्मा जानी मानी कवियित्री थीं तो ग्रैंड अंकल नालापत नारायन मेनन सम्मानित लेखक। वे केवल छह साल की उम्र में पत्रिकाओं के लिए लिखने लगीं। ये गुड़ियों को लेकर उदास कविताएं होती थीं। उन कविताओं पर उनका भाई चित्र बनाया करता था। उनकी शादी 15 साल की उम्र में रिजर्व बैंक में काम करने वाले माधव दास से हुई। वह बाम्बे आ गईं, लेकिन पति को उनका लेखन पसंद नहीं था। उन्हें लगता था कि बेहतर है कि वो मां और पत्नी के दायित्व ही निभाती रहें। ये जिम्मेदारियां ज्यादा बड़ी हैं। कमला दास ने अपनी आत्मकथा में लिखा, ''महिला चाहे कुछ भी बन जाए लेकिन उसे महिला होने के नाते अच्छी पत्नी और अच्छी मां के रूप में ज्यादा साबित करना होता है। और इसका मतलब होता है सालों साल इंतजार में बिताते रहना, लेकिन मेरे पास इंतजार करने के लिए इतना समय नहीं था। मैं इतना धैर्य नहीं रख सकती थी। इसलिए मैने चुपचाप लिखना शुरू किया।''

बाद में जब इससे उन्हें आमदनी होने लगी तो फिर उनके पति को होने वाला एतराज खत्म हो गया। उन्होंने लिखा, ''मैं अपने घर, बच्चों और किचन के काम के बाद पूरी रात जागकर लिखती रही थी। इसका असर मेरी हेल्थ पर भी पड़ा।'' उन्होंने कविताओं के जरिए महिलाओं के दर्द, अहसासों, भावनाओं और एक मानव होने को आवाज दी। ये जताया कि महिलाएं भी पुरुषों सी ही हैं।''

उनकी कविता ''एक खिड़की का शोक'' में उन्होंने पुरुष वर्चस्व वाले समाज में महिलाओं की फीलिंग दी

''ऐसा हमेशा से होता रहा है
ये किसकी दुनिया है, जो मेरी नहीं
मेरा पुरुष मेरे बच्चे बस यही धुरी
मैं कहां, मां और पत्नी के बीच
पहना दिया गया है उनकी आंखों पर चश्मा''

उन्होंने जेंडर भूमिकाओं पर भी गहरी नाराजगी जताई। लगातार इसे तोड़ने के लिए आवाज उठाती रहीं। उन्होंने आत्मकथा में लिखा, ''तब मैने एक शर्ट पहनी और साथ में ब्लैक सारोंग। मैंने अपने बाल छोटे कटवा दिए और महिलाओं को लेकर बोली जाने वाली तमाम उन लाइनों को किनारे खिसका दिया।'' जब उनका परिवार वित्तीय दिक्कतों से गुजरा तब वह कॉलमिस्ट बन गईं, क्योंकि इसमें ज्यादा बेहतर पैसे मिलते थे। कविताएं पीछे खिसक गईं। वह 'मलयालांडु वीकली' के लिए नियमित लिखती रहीं और अपने महिला होने के अनुभवों को शेयर करती रहीं। ये कुछ ऐसा था जो एकदम नए तरह का था। उनके पिता तब मरुभूमि समाचार पत्र ग्रुप में ताकतवर स्थिति में थे। उन्होंने संपादक पर दबाव बनाया कि कमला के कॉलम को बंद कर दिया लेकिन ऐसा नहीं हुआ।

अपनी कविता 'उन्माद एक ऐसा देश है' में वे कहती हैं,

''पर जब कभी निराशा की नौका
तुम्हें ठेलकर अन्धेरे कगारों तक ले जाती है
तो उन कगारों पर तैनात पहरेदार
पहले तो तुम्हें निर्वसन होने का आदेश देते हैं
तुम कपड़े उतार देते हो
तो वे कहते हैं, अपना माँस भी उघाड़ो''

इसी तरह 'प्यार' में उन्होंने लिखा है,

''तुम्हें पाने तक
मैंनें कविताएँ लिखीं, तस्वीरें बनाईं,
और, दोस्तों के साथ गई बाहर
सैर के लिए....
और अब
मैं तुम्हें प्यार करती हूँ
एक बूढ़े पालतू कुत्ते की मानिन्द लिपटी
मेरा जीवन बसा है,
तुम में...''

वर्ष 1973 में उनकी आत्मकथा 'एंते कढा' (माई स्टोरी) मलयालम में जारी हुई, जो राज्य में सनसनी बन गई। पंद्रह साल बाद इसका अंग्रेजी में अनुवाद हुआ और इसमें कुछ और अध्याय जोड़े गए। समीक्षकों ने इसे ईमानदारी से लिखी गई आत्मकथा कहा। एक महिला के अंदर से निकली सच्ची आवाज। इस किताब में उनके समाज में व्यक्तिगत के साथ प्रोफेशनल अनुभव थे। पहली बार किसी महिला लेखिका ने रजोधर्म, यौवन, प्यार, वासना, लेस्बियन एनकाउंटर, बाल विवाह, बेवफाई और शारीरिक संबंधों पर लिखा। उन्होंने फीमल सेक्सुअलिटी पर लिखा। उन्होंने साहित्य जगत में भी गजब का काम किया। अंग्रेजी में उन्होंने नॉवेल 'अल्फाबेट ऑफ लस्ट' (1977), शार्ट स्टोरीज पर 'पद्मावती द हर्लोट एंड द अदर स्टोरीज' लिखी। 'समर इन कोलकाता' (1973) कविताओं की किताब है। मलयालम में भी कई किताबें लिखीं। उन्हें कई अवार्ड भी मिले।

साभार: https://hindi.news18.com

महादेवी वर्मा

स्त्री मन की संवेदनशील चितेरी

'विस्तृत नभ का कोई कोना मेरा न कभी अपना होना,' यह पंक्ति क्या सिर्फ एक काव्य–पंक्ति है? अगर हां, तो इसका खास महत्व नहीं है। पर जैसे ही हम इस बात को समझ सकने लायक संवेदना के साथ इसे पढ़ते हैं तो हमें साफ पता चलता है कि यह विस्तृत नभ, अंतरिक्ष की विराटताओं को नहीं धरती के जीवन को एक रूपक की भाषा में कह रहा है– तो यह सहज पता चलता है कि यह एक स्त्री–मन की व्यथित पुकार है।

आलोक श्रीवास्तव (साभार: www.femina.in/hindi)

26 मार्च 1907 को उत्तर प्रदेश के फर्रुखाबाद में उनका जन्म हुआ था। घर का माहौल काफी सुसंस्कृत था। यहीं से उन्हें साहित्य के संस्कार मिले। जब वे बड़ी हो रही थीं, देश में स्वतंत्रता की चेतना अपना विस्तार कर रही थी। पिता बाबू गोविंद प्रसाद शिक्षक थे और मां हेमरानी देवी भी साहित्यिक रुचि रखती थीं, उन्होंने ही अपनी बेटी को संस्कृत और हिंदी में पढ़ाई करने की प्रेरणा दी। यह भारतीय मध्यवर्ग की विडंबना तब भी थी और आज भी है कि वह संस्कृति और जीवनशैली के बाह्य रूपों में तेजी से आधुनिकता और विकास को आत्मसात कर लेता है, पर जीवन की बुनियादी बातों को लेकर वह प्रायः रूढ़िवादी और परंपराग्रस्त ही बना रहता है। बचपन से ही मिले परिवार के शैक्षिक संस्कारों ने जहां एक ओर महादेवी के भावी जीवन को एक दिशा देने का काम किया, वहीं नौ वर्ष की उम्र में

ही कर दिए गए विवाह ने उनके निजी जीवन को उपेक्षा और पीड़ा के एक गहरे भाव से भी भर दिया। वे कभी अपने पति के घर नहीं गईं। पति ने उन्हें अपने अनुरूप सुंदर नहीं पाया और उन्हें स्वीकार नहीं किया। वे जीवन भर अकेली रहीं। पर उन्होंने अपने लिए एक विशाल परिवार बनाया। यह परिवार उनकी छात्राओं का था तो साहित्य की कई पीढ़ियों का भी था।

वह समय ऐसा था कि किसी भी विचारवान शख्स के लिए आजादी की जंग और उससे जुड़ी हस्तियों से प्रभावित न होना संभव नहीं था। महादेवी वर्मा ने सक्रिय तौर पर आजादी की लड़ाई में हिस्सा नहीं लिया, पर गांधी के विचारों का उनके जीवन पर असर पड़ा और उन्होंने उनके समाज सुधार के पहलू को तरह–तरह से ताजिंदगी जिया और अपने लिए ऐसे कार्य खोजती रहीं, जो स्त्री शिक्षा और सशक्तीकरण को एक आधार दें। इलाहाबाद में छठे दशक में आई भीषण बाढ़ में वे करुण मन से बाढ़–पीड़ितों की सहायता में लगी रहीं। जवाहरलाल नेहरू और इंदिरा गांधी से उनके आत्मीय संबंध थे, पर आपातकाल के विरोध में अपना स्वर मुखर करने से वे पीछे नहीं हटीं। उनका पूरा जीवन साहित्य और समाज के विभिन्न मोर्चों पर संलग्न रहा, पर भारतीय समाज में स्त्रियों के जटिल अस्तित्व के प्रति वे बहुत संवेदनशील रहीं। वे कहती थीं, ''गृहिणी का कर्तव्य कम महत्वपूर्ण नहीं है, यदि वह स्वेच्छा से स्वीकृत हो।''

छायावाद की धुरी

उन्हें 1956 में पद्मभूषण और 1988 में पद्म विभूषण का सम्मान मिला। 'नीहार', 'रश्मि', 'नीरजा', 'सांध्यगीत' और 'दीपशिखा' उनके काव्य–संग्रह हैं। इनमें से पहले चार संग्रह बाद में एक साथ 'यामा' के नाम से प्रकाशित हुए, जिस पर उन्हें ज्ञानपीठ पुरस्कार दिया गया। उन्होंने अनेक वैदिक ऋचाओं और संस्कृत के काव्यगीतों का हिंदी में सुंदर अनुवाद भी किया। कालिदास के अमर काव्य 'शकुंतला' से उन्होंने 'शकुंतला की विदा' का अत्यंत मार्मिक अनुवाद किया, जिसे पढ़ना भाव में डूब जाने का अनुभव देता है। हर युग अपने ढंग से अपने साहित्य को समझता और उसकी व्याख्या करता है। महादेवी जिस समय में थीं, वह समय आदर्शवाद से चालित था। उस आदर्शवाद ने उनकी कविताओं को जिस श्रेणी में रखा, उसे नाम दिया गया छायावाद। यानी किसी परमशक्ति को संबोधित काव्य। उस परम सत्ता की ही छाया। इसका पूरा एक दर्शन और स्वरूप रचा गया। पर कविता किसी परम सत्ता का स्मरण नहीं, सबसे पहले मन की एक अभिव्यक्ति होती है। बीसवीं सदी के आरंभिक वर्षों में पहली बार भारतीय मन सामूहिक–मन नहीं, व्यक्ति–मन हो रहा था। सामंती मूल्य टूट रहे थे। व्यक्ति–मन स्वतंत्रता की आकांक्षा अनुभव करने लगा था। उसे अपने अस्तित्व का एक नया बोध हो रहा था। महादेवी की कविता इसी स्वतंत्र होते स्त्री–मन का कलात्मक उद्‌गार थी। उनके युग ने उसमें आध्यात्मिकता तलाशी, यह उस युग की सीमा थी।

जिया विद्रोही जीवन

अगर हम उनके दौर के बरक्स उनकी जिंदगी को देखें तो उन्होंने एक विद्रोही जीवन जिया। विवाह के परंपरागत ढांचे से उन्होंने खुद को मुक्त कर अपने लिए एकांत चुना। यह बात आज साधारण लग सकती है, पर आरंभिक बीसवीं सदी के भारत में कल्पना से परे की थी। यही नहीं, वे साहित्य की भी उस परिपाटी में नहीं बंधीं, जो प्रचलित थी। एक कवि के रूप में उन्होंने अपने लिए एक अलग रास्ता बनाया। आज यदि हम मनोविज्ञान, स्त्री–विमर्श आदि की रौशनी में उनकी कविताओं के अंदरूनी संसार में पहुंचें तो यह संसार अपनी आभा से चमत्कृत कर देगा। उनकी कविताओं की अंतर्वस्तु वह नहीं है, जो साहित्य की आलोचना हमें बताती है। दरअस्ल, उनकी कविताएं उनके मन की आत्मकथा हैं। वहां जो समर्पित मन है, वह किसी अलौकिक सत्ता के प्रति अपनी लघुता में निवेदित होकर नहीं कह रहा है कि 'बीन भी हूं मैं, तुम्हारी रागिनी भी', बल्कि वह अपने मन के उन तत्वों का पता दे रहा है, जिनसे उसकी स्वयं की रचना हुई है। यदि हम बीसवीं सदी के आदर्शवाद का परदा हटाकर महादेवी की कविताओं का कथ्य टोहें तो उनमें एक स्त्री का संघर्ष और प्रेम अपने समय की वास्तविकता से द्वंद्व करता मिलेगा। अपनी पराजय को सहेजता और अपनी वेदना को बुनता मिलेगा।

'विस्तृत नभ का कोई कोना मेरा न कभी अपना होना', यह पंक्ति क्या सिर्फ एक काव्य–पंक्ति है? अगर हां, तो इसका खास महत्व नहीं है। पर जैसे ही हम इस बात को समझ सकने लायक संवेदना के साथ इसे पढ़ते हैं तो हमें साफ पता चलता है कि यह विस्तृत नभ, अंतरिक्ष की विराटताओं को नहीं धरती के जीवन को एक रूपक की भाषा में कह रहा है– तो यह सहज पता चलता है कि यह एक स्त्री–मन की व्यथित पुकार है। यह जीवन में अपनी हिस्सेदारी का आग्रह है, स्त्री–मुक्ति की हिंदी कविता में प्रथम दस्तक है। महादेवी की कविताओं में मुक्ति की यह दस्तक जगह–जगह सुनी जा सकती है। छायावाद युग के महान कवि जयशंकर प्रसाद ने 'आंसू' और 'कामायनी' में व्यक्ति–मन का अनुसंधान किया। निराला ने अपनी आरंभिक कविताओं में प्रेम, विछोह और ऋतु का गायन किया।

जब महादेवी लिखती हैं कि 'मैं नीर भरी दुख की बदली' तो वे भारतीय स्त्री–जीवन के इतिहास को स्वर दे रही होती हैं, 'उमड़ी कल थी मिट आज चली' में भले ही मिटने की व्यथा हो, पर भीतर कहीं फिर–फिर उमड़ने का संकल्प भी है। अक्सर उन्हें मीरा के साथ जोड़ा जाता है, आधुनिक मीरा कहा जाता है। पर मीरा भक्तिकाल की मूल भावना भक्ति से जुड़ी हैं, उनके काव्य का

सहजता

संयोग, वियोग, प्रेम इसी भक्ति की छाप से रंगा हुआ है, तो महादेवी भारत में हो रहे बहुत सारे सामाजिक परिवर्तनों और व्यक्ति और समाज पर पड़ रहे इन परिवर्तनों के परिणामों की वाहक हैं। सामंती समाज और सामंती परिवार से मुक्ति और मानवीय गरिमा पर टिके समाज और संबंधों की एक अमूर्त प्रेरणा उनकी काव्य–संवेदना की नींवों में है। इसीलिए महादेवी प्रेम की कवयित्री हैं। उनकी कविता में प्रेम से भरा एक स्त्री–हृदय अपने होने का पता हर जगह देता है।

35–36 साल की उम्र तक उनके लगभग सभी महत्वपूर्ण कविता–संग्रह प्रकाशित हो चुके थे। इसके बाद उन्होंने कविता लिखने से खुद को अलग कर साहित्य की गद्य विधाओं में ही लेखन किया। उन्होंने 80 वर्ष का लंबा जीवन जिया, परंतु इस अनुपात में गद्य में भी उन्होंने बाद में बहुत नहीं लिखा। वे स्त्री–शिक्षा को अपने समय का एक महत्वपूर्ण सवाल मानती थीं. 1930 में उन्होंने इलाहाबाद के आसपास के गांवों के स्कूलों में पढ़ाया। 1933 में वे प्रयाग महिला विद्यापीठ की प्रधानाध्यापिका के रूप में नियुक्ति हुईं। बाद में वे विद्यापीठ की चांसलर भी बनीं। उनके स्नेहिल और जिम्मेदारी से भरे इस कार्यकाल ने लड़कियों की कई पीढ़ियों को जीवन की एक नई दिशा दी। अगर उनकी छात्राओं के संस्मरणों का कभी लेखन हो पाया होता तो उनके जीवन के इस आयाम के बारे में विस्तार से पता चलता। वे साहित्य की सीमाएं जानती थीं। उन्हें सामाजिक जीवन में निभाए अपने दायित्वों का भरपूर बोध था। भारत की सांस्कृतिक गुलामी उनके लिए एक बड़ा सवाल था। स्त्रियों की शिक्षा और उनका मुक्त विकास उनके लिए एक निजी सवाल की तरह थे। आज भी स्त्री–मुक्ति के संबंध में उनके विचार एक प्रेरक स्तंभ हैं–इस मुक्ति को उन्होंने अपने जीवन में जिया था, इसको एक सार्थक व रचनात्मक दिशा दी थी।

वे सिर्फ एक लेखिका, एक कवयित्री भर नहीं थीं। देशभर के हिंदी साहित्य के लिए एक प्रेरक व्यक्तित्व भी रहीं। हिंदी के महान कवि निराला जब अकेलेपन, अवसाद की मानसिकता में डूबते चले गए थे, तब महादेवी जी ने इलाहाबाद में अपनी बनाई संस्था साहित्यकार संसद के जरिए उनकी पुस्तकों के प्रकाशन–पुनर्प्रकाशन की व्यवस्था की। नई पीढ़ी को बेहतर साहित्यिक संस्कार देना वे अपना सामाजिक दायित्व समझती थीं। बाद के अनेक प्रसिद्ध लेखकों ने अपने संस्मरणों में उन्हें इसी रूप में याद किया है। धर्मवीर भारती ने अपने कई लेखों में महादेवी वर्मा के स्नेह, उनके घर होने वाले होली के आत्मीय समारोह को रसमय ढंग से याद किया है। नरेश मेहता ने बहुत तन्मयता से उन पर कई लेखों में लिखा है।

चित्र साभारः www.femina.in/hindi

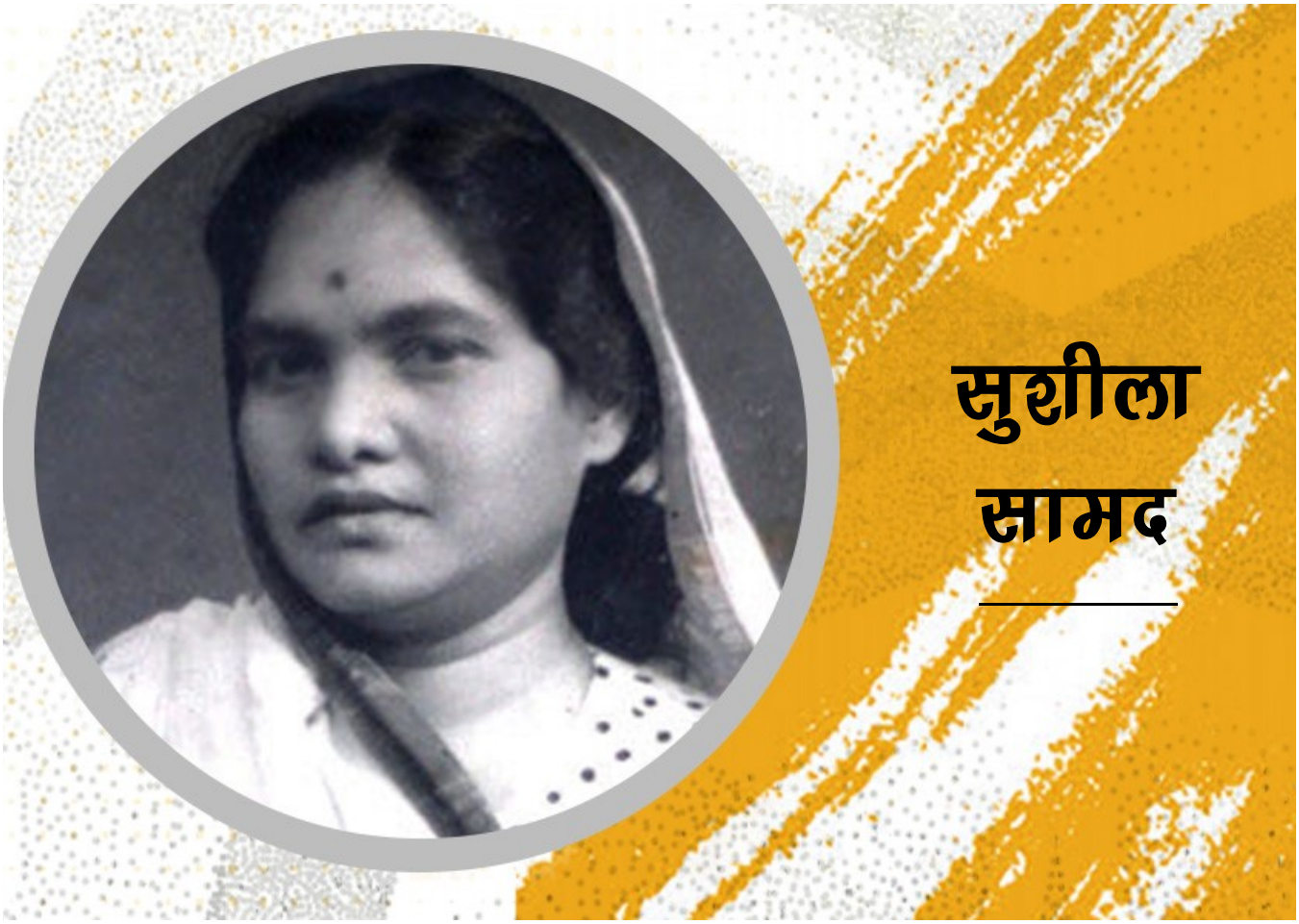

देश की पहली आदिवासी विदुषी व कवयित्री

जेब अख्तर (साभार: thefollowup.in)

सुशीला सामद, देश की पहली आदिवासी महिला विदुषी, कवि, पत्रकार और संपादक। सुशीला सामद ने 100 साल पहले औपनिवेशिक शासनकाल में नारी चेतना की आवाज बुलंद की। उन्होंने महिला अधिकारों की बात की। पुरुषों के साथ बराबरी से खड़ा होने के लिए संघर्ष किया। सुशीला सामद महात्मा गांधी के सत्याग्रह आंदोलन का भी हिस्सा रहीं। सुशीला सामद देश की पहली आदिवासी महिला सुराजी भी बनीं। औपनिवेशिक शासनकाल में जब किसी भी महिला के लिए यह सबकुछ ख्वाब जैसा लग सकता है, सोचिए कि सुशीला सामद ने यह कैसे किया होगा। बात 100 साल पुरानी है। उस समाज में महिलाओं का घर से निकलना तो दूर, बोलना भी वर्जित था। समाज के महिलाओं पर लगाई अनगिनत पाबंदियों के बीच सुशीला सामद का इतना कुछ हासिल करना निश्चित रूप से महिषासुर को हराने से कम नहीं रहा होगा। सुशीला सामद, महिषासुर रूपी चुनौतियों को हराकर उपलब्धियों का शिखर खड़ा कर पाईं क्योंकि वह जिस समाज से आती हैं, उसमें जन्मजात जुझारुपन है। झारखंड में सिंहभूम का इलाका अपनी कभी ना हार मानने वाली प्रवृत्ति के लिए मशहूर रहा है। सुशीला सामद पर सिंहभूम की उस मिट्टी का खूब प्रभाव पड़ा।

सिंहभूम के जुझारुपन और लड़ाकू प्रवृत्ति का एक बेहत. रीन उदाहरण बताते हैं। 1757 में पलासी की लड़ाई में सिराजुद्दौला को हराने के बाद अंग्रेजों को बंगाल की दीवानी मिल गई। उन्होंने कोलकाता भी हथिया लिया, लेकिन बंगाल की सीमा से लगे सिंहभूम पर पैर जमाने में उन्हें और 70 साल लगे। सुशीला सामद इसी सिंहभूम की मिट्टी की पैदाइश थीं। सिंहभूम के लउजोड़ा गांव में पिता मोहनराम संदिल और मां लालमनी संदिल के घर 7 जून

1906 को सुशीला सामद का जन्म हुआ। सुशीला 5 बहनों में सबसे छोटी थीं। सुशीला की बड़ी बहनें थीं, मुन्नी, सोना, चांद और तारा। एक भाई था हरिपद सामद। स्कूली शिक्षा पूरी करने के तुरंत बाद करीब 16 साल की उम्र में सुशीला सामद की शादी, टाटा स्टील में काम करने वाले शिवचरण सामद से हो गई। सुशीला से बड़ी तारा सामद की शादी देवेंद्रनाथ सामद से हुई। देवेंद्रनाथ वकालत की पढ़ाई करने वाले पहले आदिवासी युवक थे। देवेंद्रनाथ को सुशीला से खास लगाव था। वह पहले व्यक्ति थे जिन्होंने सुशीला के अंदर छिपी बेचैनी और मुखालफत की चिंगारी को पहचाना। देवेंद्रनाथ समझ गए थे कि सुशीला घर की चहारदीवारी में कैद रहने वाली साधारण महिला नहीं हैं। देवेंद्रनाथ ने सुशीला को लिखने के लिए प्रोत्साहित किया। देवेंद्रनाथ उस समय चांदनी नाम की प्रतिष्ठित आदिवासी साहित्य पत्रिका के संपादक थे। बहरहाल, सुशीला सामद तब तक बच्चे की मां बन चुकी थी।

देश की पहली आदिवासी हिंदी विदुषी

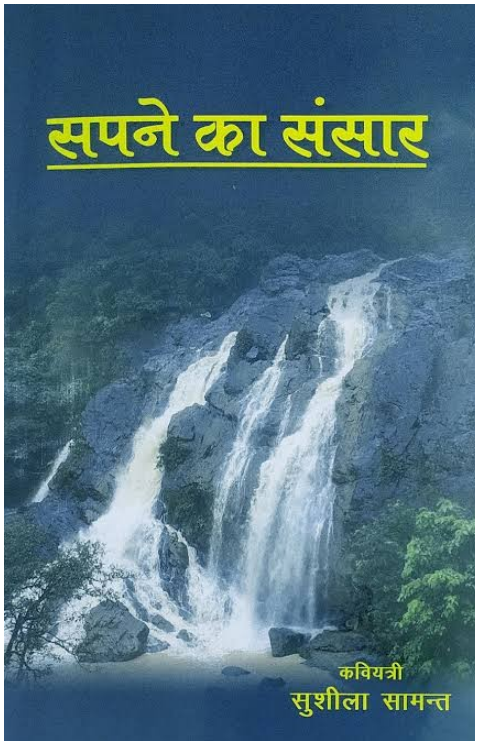

सुशीला सामद ने लेखन के साथ आगे की पढाई करने की भी इच्छा जाहिर की। देवेंद्रनाथ ने भरपूर साथ दिया। सुशीला सामद ने 4–5 सालों के बाद फिर से पढाई शुरू की। 1934 में उन्होंने प्रयागराज महिला विद्यापीठ से हिंदी विदुषी यानी ऑनर्स स्नातक की परीक्षा प्रथम श्रेणी में पास की। इस तरह वो देश की पहली आदिवासी हिंदी विदुषी महिला बनीं। इस बीच उनका कविता लेखन भी परवान चढ़ रहा था। अफसोस कि हिंदी में लिखने के बावजूद उनकी कविताओं को हिंदी साहित्य में वो मुकाम कभी नहीं मिला जिसकी वो सही मायनों में हकदार थीं। उनका पहला कविता संग्रह 'प्रलाप' 1935 में प्रकाशित हो चुका था। इसी प्रलाप के पुनर्प्रकाशन पर आदिवासी मामलों की जानकार और लेखिका वंदना टेटे लिखती हैं, ''सुशीला सामद के हिंदी साहित्य को इतिहास के मठाधीशों ने फाड़कर फेंक दिया है। इसलिए कि आदिवासी हिंदी के आरंभिक काल से ही लिख रहे थे। इसलिए कि आदिवासी होते हुए भी अपनी पहली ही हिंदी कविता संकलन से तत्कालीन कविता के शीर्ष को छू लेने वाली इस आदिवासी कवयित्री को वे स्वीकार नहीं करना चाहते। इसलिए कि वे महिलाओं को साहित्य लेखन का श्रेय देने को तैयार नहीं थे। इसलिए भी कि वे आदिवासियत की आवाज को दबाना चाहते थे। दरअसल, साहित्य का समूचा इतिहास लेखन आधी–अधूरी, नस्लीय, सामंती और लैंगिक भेदभाव से भरा है। सुशीला सामद की जानबूझ कर की गई उपेक्षा और अनुपस्थिति यही बात साबित करती है।''

हिंदी के साथ मुंडारी में भी कविताएं लिखीं

वंदना आगे कहती हैं, ''ये कितना त्रासद है कि महादेवी वर्मा और सुशीला सामद एक ही समय में साथ–साथ लिख रही होती हैं लेकिन, साहित्य जगत ने एक को शीर्ष पर पहुंचा दिया वहीं दूसरी को याद करना भी मुनासिब न समझा।'' बहरहाल, बाद में जब सुशीला सामद के बहनोई देवेंद्रनाथ एमएलसी बनकर बिहार विधानसभा चले गये तो 'चांदनी' पत्रिका के संपादन की जिम्मेदारी भी सुशीला के कंधों पर आ गयी। उन्होंने पांच सालों तक इस पत्रिका का संपादन किया। जिसे उस समय के हिंदी जगत में नोटिस किया गया। बहरहाल उन्होंने न सिर्फ हिंदी में बल्कि अपनी मातृभाषा मुंडारी में भी कविताएं लिखीं।

ये अध्याय अधूरा ही माना जायेगा अगर बात सुशीला सामद के स्वतंत्रता आंदोलन में भागीदारी न की जाये। आजादी की लड़ाई में सुशीला सिंहभूम और कोल्हान के महिलाओं का नेतृत्व भी करती थीं। 12 मार्च 1930 को जब गांधी ने डांडी मार्च की शुरुआत की तो इसकी चिंगारी झारखंड तक पहुंची। उस वक्त सुशीला ने ही गांधी का साथ देने के लिए महिलाओं को प्रेरित किया। जब एक जनवरी 1948 को खरसावां गोलीकांड हुआ, जिसे आजाद भारत का जलियावालां गोलीकांड के नाम से जाता है, तो इस गोलीकांड में घायल होने वालों की मदद करने में आगे–आगे रही थीं। वे नमक सत्याग्रह में भाग लेने वाली पहली आदिवासी महिला थीं। स्वतंत्रता संग्राम में अपनी अतुल्य भागीदारी के लिए उन्होंने अपने डेढ़ साल के बच्चे को छोड़ा था। 1934 में सरस्वती पत्रिका के संपादक देवीदत्त शुक्ल ने सुशीला सामद के बारे में लिखा, ''सरल शब्दों में भावों को कविता का रूप देने में सुशीला ने कमाल हासिल किया है।'' 10 दिसम्बर, 1960 को सुशीला समद का निधन हो गया। सुशीला सामद के दो काव्य संग्रह प्रलाप और सपनों का संसार प्रकाशित हुए और बिहार विधानसभा में उन्होंने एमएलसी के रूप में भी काम किया। उन्होंने सफलतापूर्वक अपनी सामाजिक सांस्कृतिक और साहित्यिक जिम्मेदारियों का निर्वहन किया।

आशापूर्णा देवी

स्त्री चेतना की आवाज

पंकज शुक्ला (साभार: hindi.news18.com)

''उसके लिए उस शब्द छंद का नाम है जय जय गोविंद। दादी जय–जय गोविंद कर रही है। अर्थात् दादी अब गंगा स्नान करने के लिए निकल रही हैं। 'निकलना' शब्द उसे बेहद रोमांचित करता है। किसी को निकलते देखा कि हृदय खुशी से नाच उठता। मानो कहीं अनन्त रहस्य का भंडार हो, असीम विस्मय की दुनिया हो। जहां खुशियां ही खुशियां, अच्छा लगे ऐसी एक जगह इस घर का चौखट पार करते ही मिल जाएगी वह निधि। अतएव दादी जी निकलने वाली है। इस बात की आहट लगने के बाद लेटे रहना असंभव हो जाता। कौतूहल ही शायद यह अकुलाहट होती थी। चेतना की प्रथम प्रेरणा तो कौतूहल ही है।''

आशापूर्णा देवी के उपन्यास 'दृश्य दृश्यांतर' का यह अंश वास्तव में उनकी साहित्य यात्रा के प्रस्थान बिंदु के पीछे की ताकत को बताता है। उनकी साहित्यिक चेतना का प्रेरणा बिंदु वह कौतूहल ही है जो 'निकलने' की जिज्ञासा से उत्पन्न हुआ है। ज्ञानपीठ पुरस्कार प्राप्त पहली महिला साहित्यकार आशापूर्णा देवी का जीवन जितना सरल रेखा सा दिखाई देता है, उतनी ही सीमाओं में जकड़ा भी रहा है। 13 जुलाई 1995 को इस दुनिया से कूच कर जाने वाली आशापूर्णा देवी को याद करना हमेशा से एक सफर पूरा करना जैसा रहा है।

135 उपन्यास सहित 225 से अधिक साहित्यिक कृतियां रचने वाली आशापूर्णा देवी का जन्म 8 जनवरी 1910 को कोलकाता में हुआ था। यह सर्वज्ञात तथ्य है कि उनके परिवार में दादी का शासन था और दादी की पाबंदी थी कि लड़कियों को पढ़ाया नहीं जाएगा। यही

''यह उचित भी है कि समाज में नारी को पूर्णाधिकार प्राप्त हो लेकिन 'स्वाधीनता' और 'स्वेच्छाचारिता'–इन दो स्थितियों के बीच जो सीमा–रेखा है वह कहीं मिट न जाए! कानून हाथ में है इसलिए उनका अवांछित उपयोग न हो! दुनिया की नजरों में 'भारतीय नारी' शब्द का एक विशेष महत्त्व है, उस महत्त्व को हम कहीं खो न दें!''

कारण है कि सुदीक्षित माता की संतान होने के बाद भी आशापूर्णा देवी को बचपन में औपचारिक शिक्षा नहीं मिल सकी। लेकिन कौतूहल कहां बाधाओं से बांधे बंधा है? जब भाइयों को पढ़ाया जाता तो नन्ही आशापूर्णा पास बैठ कर सुना करती थी और इस तरह शिक्षित होती रही। मात्र 13 साल की उम्र में उन्होंने एक कविता लिखकर चुपके से बच्चों की एक पत्रिका को भेज दी। कविता का शीर्षक था–'बाइरेर डाक' यानी बाहर की दुनिया की डाक। कविता न केवल छपी बल्कि सम्पादक ने आशापूर्णा देवी से आग्रह किया कि वे और लिखें। बस यहां से लेखक आशापूर्णा देवी का रचनात्मक सफर शुरू हो गया।

मात्र 15 वर्ष की आयु में आशापूर्णा देवी का विवाह हो गया लेकिन पति ने उनके लिखने–पढ़ने को लेकर समर्थन दिया और उन्होंने लिखना जारी रखा। शुरुआती ज्यादातर पुस्तकें बच्चों के लिए थीं। करीब 27 वर्ष की उम्र में 1936 में उन्होंने पहली कहानी वयस्क पाठकों के लिए लिखी 'पत्नी ओ प्रेयोशी' जो कि आनंद बाजार पत्रिका में छपी और इसके बाद आया उनका पहला उपन्यास 'प्रेम ओ प्रोयोजन'। उनके उपन्यासों, कहानियों के स्त्री पात्रों की पीड़ा और सामाजिक रूप से स्त्रियों के लिए बनाई गई बेड़ियों का सच उनके क्रन्तिकारी स्वभाव का परिचायक थी जिसने उस दौर के पुरुषसत्तावादी सोच रखने वालों को चौंका और डरा दिया था।

उनकी सबसे चर्चित पुस्तक श्रृंखला (तीन भागों में– प्रथम प्रतिश्रुति, स्वर्णलता व बकुल कथा) तीन पीढ़ियों की कहानी कहती है। समकालीन बांग्ला साहित्यकार महाश्वेता देवी ने लिखा है कि 'प्रथम प्रतिश्रुति' आशा दी की कथा त्रयी की पहली कड़ी है। उसके बाद की दो कड़ियों– 'सुवर्णलला' और 'बकुलकथा' एक दूसरे की पूरक हैं और इन तीनों औपचारिक कृतियों के जरिए आशा दी ने विगत, मध्य व वर्तमान काल की तीन पीढ़ियों के सामाजिक इतिहास के चरणों को उद्घाटित किया। इन तीनों कृतियों से साफ है कि उनके मन की आंख में सर्चलाइट थी। मूल्यों का संकट और पीढ़ियों का टकराव जैसी समस्याओं पर उन्होंने नई व्यवस्था दी है। उनकी सारी की सारी स्थापनाएं भारतीय मर्यादा और प्रदत्त पारिवारिक ढांचे के अनुकूल हैं। वे स्त्री के आत्मसम्मान के लिए तो लड़ती हैं पर आधुनिकता के नाम पर स्त्री के द्वारा पारिवारिक मर्यादा को लांघने का समर्थन कभी नहीं करतीं। 'प्रथम प्रतिश्रुति' पर आशा दी को ज्ञानपीठ पुरस्कार मिला था। उस कृति से जो जंग उन्होंने आरंभ की वह 'बकुल कथा' आते–आते तेज हो गई।

महाश्वेता देवी से चर्चा में आशापूर्णा देवी ने कहा था कि यह सवाल मुझसे प्रायः किया जाता है कि मैं साहित्य में कैसे आई? दरअसल, 13 साल की उम्र में हठात् मन में उमंग उठी कि कुछ लिखूं। मैंने कविता लिखी और उसे एक बाल पत्रिका में प्रकाशनार्थ भेज दिया। वह रचना यदि नहीं छपती तो शायद आगे लिखने का उत्साह मंद पड़ जाता पर उस पत्रिका ने न सिर्फ कपिता छापी, आगे और लिखने का भी आग्रह किया। दूसरी पत्रिकाओं से भी आग्रह आने लगे। 15 साल की उम्र में एक साहित्यक प्रतियोगिता में मुझे प्रथम पुरस्कार मिला तो लिखने का उत्साह और बढ़ गया। पहली रचना छपने के बाद से पांच दशक बाद तक संपादकों ने आशापूर्णा देवी से लगातार रचनाएं मंगवाईं। उनकी कोई रचना कभी अस्वीकृत नहीं हुई।

उनके मन में हमेशा सवाल उठता था कि इंसानों के बीच इतना अंतर क्यों है? इतनी असमानाएं क्यों हैं? जीवन के हर क्षेत्र में स्त्री को अधिकारों से क्यों वंचित रखा गया है? आशापूर्णा देवी की कृतियों में विद्रोह के स्वर तो हैं लेकिन वे हंगामा नहीं करते। वे मनाभावों को सहज, सरल भाषा और दैनिक व्यवहार के क्रियाकलापों से उजागर होते हैं। यह अचरज की बात है कि केवल बांग्ला भाषा ही जानने वाली आशापूर्णा देवी का साहित्य कई भाषाओं में अनुदित हुआ और दुनिया में करोड़ों पाठकों के मर्म तक पहुंचा। शायद यही वजह है कि उनके कद को कम करने के लिए उन्हें रसोई की साहित्यकार कहा गया। इसका कारण यह कि वे दिन में घर–गृहस्थी संभालतीं थीं और रात में कलम थाम कर साहित्य रचा करती थीं। दूरदर्शन को दिए गए एक साक्षात्कार में उन्होंने कहा था मेरे लिए गृहस्थी मेरी धरती है और साहित्य सृजन मन का आकाश। मेरी निगाहें आकाश पर लगी रहीं जबकि पैर धरती पर रहे। मैंने कभी एक दूसरे को यानी गृहस्थी और साहित्य को एक दूसरे का पूरक या प्रतिस्पर्धी नहीं माना बल्कि दोनों मेरे लिए समानांतर रहे।

'बकुल कथा' की भूमिका में वे लिखती हैं, ''बकुल कथा' की रचना के बाद भी समाज के ढांचे में हरदम परिवर्तन होते आ रहे हैं, हरदम पुराने ढांचे को आघात पहुंच रहा है। जीवन के जिस रूप को साहित्य जब तक पकड़ता है तब तक वह बदल चुका होता है। जिस 'दुस्साहस' से आज का समाज भयभीत है, आने वाले कल का समाज उसे सहज ही ग्रहण कर लेता है। फिर भी मानव–जीवन में मानवीयता का आदर्श कभी भी परिवर्तित नहीं होता, ऐसी मेरी धारणा है। अपनी लेखनी में भी मैं हमेशा इसी बात को प्रकट करने का यथासम्भव प्रयास करती आयी हूं. परंतु इस पुस्तक में मैंने एक और बात कहने की चेष्टा की है। यह उचित भी है कि समाज में नारी को पूर्णाधिकार प्राप्त हो लेकिन 'स्वाधीनता' और 'स्वेच्छाचारिता'–इन दो स्थितियों के बीच जो सीमा–रेखा है वह कहीं मिट न जाए! कानून हाथ में है इसलिए उनका अवांछित उपयोग न हो! दुनिया की नजरों में 'भारतीय नारी' शब्द का एक विशेष महत्त्व है उस महत्त्व को हम कहीं खो न दें!''

बांग्ला साहित्य में बंकिम, रवींद्र नाथ, शरत् के पश्चात् आशापूर्णा देवी का अमिट स्थान है। बंगाल की साहित्यिक और सामाजिक पृष्ठभूमि में स्त्रियों के अधिकारों के लिए जागृत चेतना में आशापूर्णा देवी का सृजन महत्वपूर्ण है।

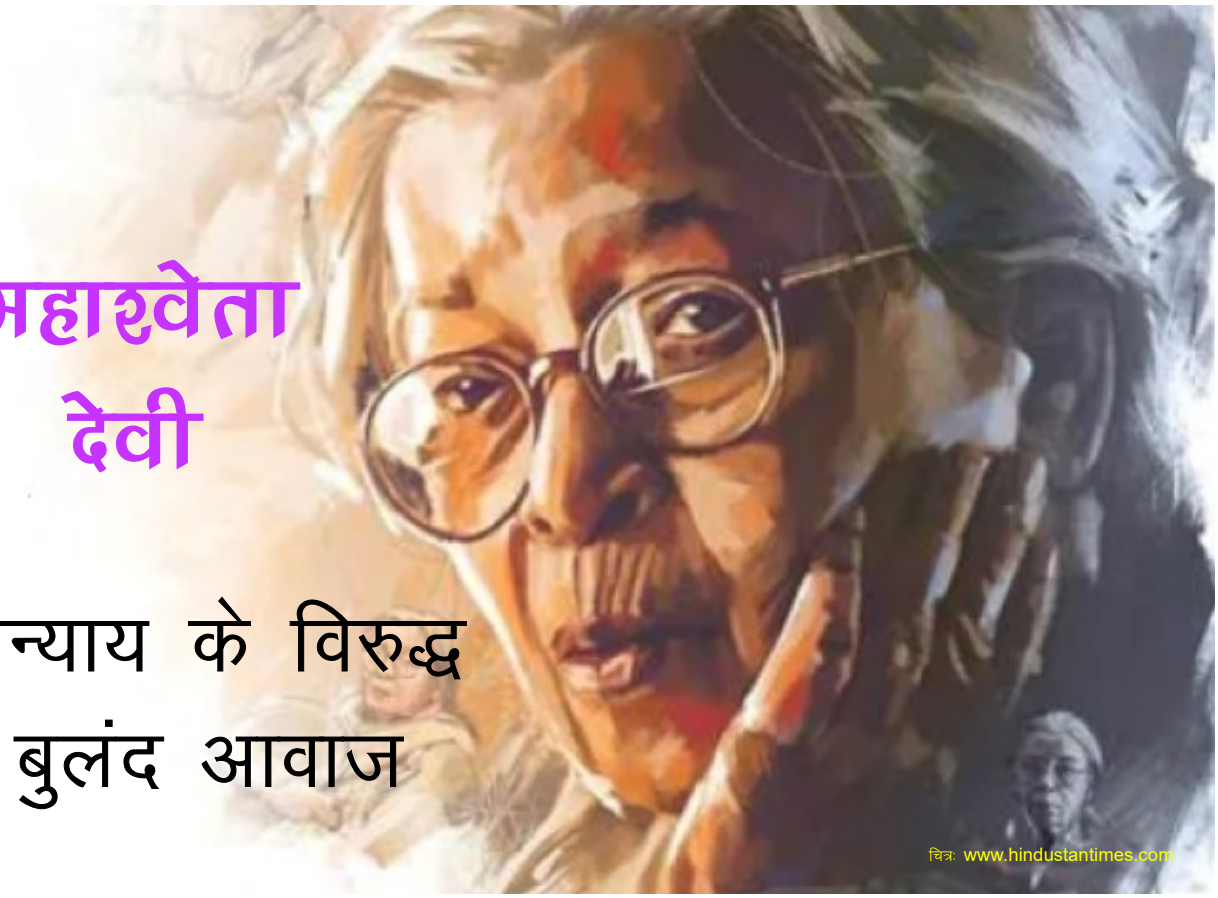

महाश्वेता देवी

अन्याय के विरुद्ध बुलंद आवाज

चित्र: www.hindustantimes.com

चित्रलेखा बसु (साभार: caravanmagazine.in)

मैंने 2000 में अभिनेत्री सावित्री हिसनाम को महाश्वेता देवी की 1976 में लिखी कहानी 'द्रौपदी' के एक मंचीय रूपांतरण में नायिका की भूमिका में देखा। 'द्रौपदी' 1960 के दशक के अंत और 1970 के दशक की शुरुआत में नक्सली आंदोलन की पृष्ठभूमि में बंगाल–बिहार सीमा पर 'झरखानी' के काल्पनिक लेकिन जाने–पहचाने वन क्षेत्र की एक विद्रोही महिला आदिवासी के बारे में है, जो शहर के एक कम्युनिस्ट गुरिल्ला समूह के साथ काम करती थी। द्रौपदी को सेना पकड़ लेती है और उसके साथ बारी–बारी से बलात्कार किया जाता है. महाभारत की तरह फिर से द्रौपदी को खुलेआम अपमानित करने की कहानी से अलग यहां महाश्वेता की द्रौपदी अपनी साड़ी उतार फेंकती है और राज्य ने उसे जो घाव दिए थे उन्हें छुपाने से इनकार कर देती है।

दर्शकों को विश्वास नहीं हो रहा था क्योंकि हिसनाम मंच पर पूरी तरह से नग्न खड़ी थीं। उनकी हल्की सी काया अचानक अंधेरी पृष्ठभूमि के बरक्स बड़ी हो गई। फिर एक शिकारी पक्षी की तरह उसने अपनी बाहों को फैलाया और धीरे–धीरे नपे हुए कदम अपने वर्दीधारी हमलावरों की तरफ उठाए। जैसे ही द्रौपदी ने संगीनों, बंदूकों से ज्यादा ताकतवर हथियार की तरह अपने जख्मों को ओढे, द्रौपदी ने अपने तार–तार शरीर को उनकी और फेंका तो सैनिक डर गए।

एक औरत को मंच पर नग्न दिखाने के लिए इस नाटक को विवाद झेलना पड़ा। चार साल बाद जुलाई 2004 में मणिपुर में आंदोलनकारी औरतों ने 34 साल की थंगजाम मनोरमा के साथ हिरासत में हुए बलात्कार और उसकी हत्या के विरोध में अपने कपड़े उतार दिये। 10 जुलाई की रात को मनोरमा को प्रतिबंधित पीपुल्स लिबरेशन आर्मी से कथित संबंधों का आरोप लगा कर अर्धसैनिक बल असम राइफल्स ने इम्फाल स्थित उनके घर से उठा लिया था। असम राइफल्स मुख्यालय के सामने हाथों मे 'भारतीय सेना हमारा भी बलात्कार करो' कहते हुए बैनर पकड़े हुए लगभग चालीस महिलाओं ने, नग्न होकर प्रदर्शन किया। इस तीखे विरोध ने मीडिया की सुर्खियां तो बटोरी लेकिन मणिपुर की महिलाओं के जीवन में अंतर नहीं आया जो असम राइफल्स को इस तरह की अभद्रता के साथ काम करने की इजाजत देता है। कई लोगों ने इस बात को चिन्हित किया

कि कैसे महाश्वेता देवी ने भविष्य का अनुमान लगा लिया था।

इसी तरह हैदराबाद विश्वविद्यालय में पीएचडी के एक दलित उम्मीदवार रोहित वेमुला ने अपने पीछे एक नोट छोड़ कर खुद को फांसी लगा ली थी। नोट में लिखा था, ''मेरा जन्म मेरे लिए घातक दुर्घटना है।'' वेमुला की मौत ने 1992 की यादों को ताजा कर दिया जब महाश्वेता ने 27 साल की चुन्नी कोटाल के समर्थन में एक सतत अभियान चलाया था, जो ग्रामीण पश्चिम बंगाल के एक आदिवासी समूह, लोढ़ा–शाबर समुदाय की पहली महिला विश्वविद्यालय स्नातक थी। लोढ़ा–शाबर लोग, जिन्हें ब्रिटिश भारत में एक आपराधिक जनजाति के रूप में सूचीबद्ध किया गया था, जिसे बाद में समाप्त भी कर दिया गया लेकिन आज भी कायम है– या पीछे 1990 के दशक में बंगाल में था। कोलकाता से 150 किलोमीटर पश्चिम में विद्यासागर विश्वविद्यालय में अपने स्नातकोत्तर की पढ़ाई के दौरान, कोटाल को प्रोफेसरों और प्रशासकों ने जानबूझ कर परेशान किया। उन्होंने उच्च शिक्षा हासिल करने के लिए एक आदिवासी महिला की आकांक्षाओं को खुले तौर पर चुनौती दी थी। यह स्पष्ट हो गया था कि उनकी शिकायतों के आधार पर विश्वविद्यालय द्वारा नियुक्त जांच आयोग को दी जाने वाली धमकियों पर लगाम लगाने के लिए कुछ नहीं कर पाया और स्नातकोत्तर डिग्री प्राप्त करने का उनका सपना कभी पूरा नहीं हो पाया। कोटाल ने 16 अगस्त 1992 को खुद की जान ले ली।

महाश्वेता यानी पूर्ण धवल। इस नाम का एक अर्थ होता है वाग्देवी सरस्वती। प्रख्यात बांग्ला साहित्यकार महाश्वेता देवी का यही एक परिचय नहीं है कि वे लेखिका थीं। उन्होंने जो लिखा वह जीवन को करीब से देख कर लिखा। इस तरह वे जीवन का साहित्य रचने वाली कथाकार थीं। उन्होंने जो रचा उससे कई लोगों का जीवन समृद्ध हुआ। इस तरह वे एक्टिविस्ट थीं। इन सबसे ऊपर वे एक स्त्री थीं, कोमल मनोभावों को समझने वाली तो उतने ही दृढ़ इरादों वालीं। उन्होंने जाने माने नाटककार बिजोन भट्टाचार्य से शादी की थी। भट्टाचार्य इंडियन पीपुल्स थियेटर एसोसिएशन के संस्थापक सदस्य थे। बेटे नवारुण के जन्म के बाद दोनों 1962 में अलग हो गए।

महाश्वेता देवी का जन्म 14 जनवरी 1926 को बांग्लादेश में हुआ था। महाश्वेता देवी ने अपनी लेखनी को सामाजिक बदलाव का हथियार बनाया। वह एक पत्रकार, लेखक, साहित्यकार और आंदोलनकारी के रूप में पहचानी जाती हैं। महाश्वेता देवी का जन्म 14 जनवरी 1926 को बांग्लादेश में हुआ था। वह मूल रूप से बांग्ला भाषा की लेखिका थीं, लेकिन इसके बावजूद उन्हें हर भाषा और समाज में विशेष सम्मान मिला। महाश्वेता देवी के पिता मनीष घटक एक कवि और उपन्यासकार थे। उनकी मां धारीत्री देवी भी एक लेखिका और एक सामाजिक कार्यकर्ता थीं। महाश्वेता देवी न सिर्फ अपनी लेखनी में बल्कि धरातल पर भी पूरी जिंदगी समाज के हर तबके के लिए संघर्ष करती रहीं।

महाश्वेता देवी का परिवार भारत विभाजन के समय पश्चिम बंगाल में आकर रहने लगा था। उन्होंने विश्वभारती विश्वविद्यालय, शांति निकेतन से अंग्रेजी विषय के साथ बीए पास किया। फिर उन्होंने कलकत्ता विश्वविद्यालय से एमए अंग्रेजी में ही किया। इसके बाद एक शिक्षक और पत्रकार के रूप में अपना जीवन प्रारम्भ किया। कुछ दिनों के बाद उनकी कलकत्ता विश्वविद्यालय में अंग्रेजी व्याख्याता के तौर पर नियुक्ति हो गई।

महाश्वेता देवी ने कम उम्र में ही लिखना शुरू कर दिया था।वह शुरू में साहित्यिक पत्रिकाओं के लिए लघु कथाएं लिखा करती थीं। स्कूल में उनकी एक शिक्षिका थीं अपर्णा सेन, जिनके बड़े भाई रंगमशाल निकालते थे। शिक्षिका ने एक दिन महाश्वेता को रवींद्रनाथ की पुस्तक 'छेलेबेला' देते हुए उस पर कुछ लिखकर लाने को कहा। महाश्वेता ने लिखकर दे दिया और वह रंगमशाल में छप गया। यही महाश्वेता की पहली रचना थी।

महाश्वेता देवी की पहली किताब 'झांसी की रानी' 1956 में आई। दूसरी पुस्तक 'नटी' 1957 में और फिर 'जली थी अग्निशिखा' आई। अपनी सबसे कालजयी रचना 'अरण्येर अधिकार' (जंगल के दावेदार) में समाज में व्याप्त शोषण और उसके खिलाफ धधकते विद्रोह को रखांकित किया। 'अरण्येर अधिकार' बिरसा मुंडा पर आधारित उपन्यास है, जिन्होंने ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरुद्ध जनजातीय विद्रोह का बिगुल फूंका था। 1979 में इस किताब के लिए उन्हें साहित्य अकादमी पुरस्कार प्रदान किया गया था। उनकी कुछ महत्त्वपूर्ण कृतियों में जंगल के दावेदार, 1084 की मां, माहेश्वर, ग्राम बांग्ला आदि हैं। उनकी 100 के करीब उपन्यास प्रकाशित हो चुके हैं। उनकी कई कृतियों पर फिल्में भी बनी हैं, जिनमें 1968 में संघर्ष, 1993 में रूदाली, 1998 में हजार चौरासी की मां, 2006 में माटी माई प्रमुख हैं।

महाश्वेता देवी मूलरूप से बिहार, छत्तीसगढ़ और मध्य प्रदेश के आदिवासियों के हितों के लिए संघर्ष करती रही हैं। 1979 में महाश्वेता को अरण्येर अधिकार के लिए सहित्य अकादमी पुरस्कार प्रदान किया गया। 1986 में पद्मश्री, 1996 में ज्ञानपीठ और रमन मैगसेसे पुरस्कार प्रदान किया गया। 2006 में उन्हें पद्म विभूषण की उपाधि से सम्मानित किया गया। महाश्वेता देवी का 28 जुलाई 2016 को निधन हो गया।

मन की गिरहों को शब्दों में पिरोती

निर्मला पुतुल

दीपशिखा (साभार: hindi.feminisminindia.com)

निर्मला पुतुल संथाली भाषा की कवयित्री, लेखिका और सामाजिक कार्यकर्ता हैं। उनका जन्म 6 मार्च 1972 को झारखंड के दुमका जिला के दुधनी कुरूवा गांव में हुआ था। उनके पिता का नाम स्वर्गीय सिरील मुरमू तथा माता का नाम कामिनी हांसदा हैं। निर्मला हिंदी कविताओं में आदिवासी समाज से एक बहुचर्चित नाम हैं। इनका शुरुआती जीवन हर ओर से संघर्ष से भरा रहा। यद्यपि कि उनके पिता और चाचा दोनों ही शिक्षक थे जिस वजह से उनके घर में शिक्षा का माहौल शुरू से ही था, लेकिन आर्थिक समस्याओं के कारण उनका अध्ययन अक्सर बाधित होता रहता था। उन्होंने सबसे पहले राजनीति शास्त्र में ऑनर्स किया और बाद में नर्सिंग में डिप्लोमा भी किया। आदिवासी जीवन के बारे में तो उनकी जानकारी और समझ थी ही मगर पढ़ाई के बाद उन्होंने महसूस किया कि वास्तविकता अलग है। निर्मला पुतुल अपनी कविताओं के जरिये विकास और प्रगति की पूरी धारणा पर सवाल उठाती हैं। उन्होंने अपनी कविताओं के माध्यम से समाज के उन पक्षों को आगे लाने की कोशिश की है जो आमतौर पर लोगों की नजरों से ओझल हो जाता है। उनकी कविताओं में आदिवासी महिलाओं की पीड़ा एवं समस्याएं स्पष्ट रूप से नजर आती हैं।

निर्मला की कविताओं में झारखंड तथा आदिवासी समुदाय की संस्कृति का सौंदर्यपूर्ण चित्रण भी साफ दिखता है। उन्होंने अपनी कविताओं के माध्यम से आदिवासी समाज के अनछुए पहलुओं को सबके सामने रखा है। निर्मला मुख्य रूप से हिंदी और संथाली में लिखती हैं। उनकी कविताओं का कई भाषाओं में अनुवाद हो चुका है। कविताएं लिखने के अलावा निर्मला सामाजिक विकास के कार्यों में भी जुटी हुई हैं। 15 साल से अधिक समय से वह आदिवासी महिलाओं के विस्थापन, पलायन, उत्पीड़न, स्वास्थ्य,

शिक्षा, जेंडर संवेदनशीलता, मानवाधिकार, सम्पत्ति का अधिकार, सामाजिक विकास, और आदिवासी महिलाओं के समग्र उत्थान, शिक्षा आदि बातों के लिए व्यक्तिगत रूप से तथा संस्थाओं के साथ जुड़कर भी काम कर रही हैं।

उनका जुड़ाव राज्यस्तरीय, राष्ट्रीय तथा अंतरराष्ट्रीय संस्थाओं से भी हैं। महिला शिक्षा, आदिवासी एवं साहित्य से जुड़े कार्यक्रमों और सम्मेलनों में उन्हें मुख्य भूमिका में बुलाया जाता है। उन्होंने कई संस्थाओं की स्थापना भी की है, जैसे जीवन रेखा ट्रस्ट और संथाल परगना (झारखंड) की संस्थापक सचिव के अलावा वे जन संस्कृति मंच केन्द्रीय समिति, दिल्ली की उपाध्यक्ष भी हैं। उन्होंने शिक्षा के क्षेत्र में भी बहुत कार्य किया। वे ग्रामीण, पिछड़ी, दलित, आदिवासी, आदिम जनजाति महिलाओं के बीच शिक्षा एवं जागरूकता के लिए विशेष रूप से प्रयासरत रही हैं।

निर्मला पुतुल की कविताएं शुरुआत में समाज का दर्पण रहीं। जहां एक ओर उन्होंने संथाली समाज के भोलेपन, मेहनत, और प्रकृति से जुड़ाव के पक्ष को लोगों के सामने रखा वहीं दूसरी ओर नशा, अशिक्षा और कई बुराईयों को भी उसी बेबा. की के साथ लिखा। उन्होंने महिलाओं की मन की स्थिति को बहुत ही अच्छे तरह से समझा तथा उसको उसी स्पष्टता के साथ लिखा। उनकी कविता "मेरे एकांत का प्रवेश द्वार" और "क्या तुम जानते हो" में उन्होंने एक स्त्री के एकांत और उसके मन के बारे में चर्चा की है।

उनकी ये कविताएं यह बताती हैं कि रिश्तों के गणित से परे भी स्त्री का एक अस्तित्व है, एक जिंदगी है। वह जिंदगी जो वह असल में जीना चाहती हैं, वह जिंदगी जो यह समाज कभी नहीं समझ सकेगा। उन्होंने स्त्री को रसोई और बिस्तर से परे उनके असल स्त्रीत्व को शब्दों में सजाया है। वहीं उनकी दूसरी कविता "संथाल परगना" में उन्होंने अपनी जन्मभूमि में आ रहे दुखद बदलाव के बारे में लिखा है। कैसे

बाबा! मुझे उतनी दूर मत ब्याहना

जहाँ मुझसे मिलने जाने खातिर
घर की बकरियाँ बेचनी पड़े तुम्हें
मत ब्याहना उस देश में
जहाँ आदमी से ज्यादा
ईश्वर बसते हों

जंगल नदी पहाड़ नहीं हों जहाँ
वहाँ मत कर आना मेरा लगन
वहाँ तो कतई नहीं
जहाँ की सड़कों पर
मन से भी ज्यादा तेज दौड़ती हों
मोटर–गाड़ियाँ
ऊँचे–ऊँचे मकान
और दुकानें हों बड़ी–बड़ी

उस घर से मत जोड़ना मेरा रिश्ता
जिस घर में बड़ा खुला आँगन न हो
मुर्गे की बाँग पर जहाँ होती ना हो
सुबह, और शाम पिछवाड़े से जहाँ
पहाडी पर डूबता सूरज ना दिखे।

मत चुनना ऐसा वर
जो पोचाई, और हंडिया में
डूबा रहता हो अक्सर
काहिल निकम्मा हो, माहिर हो मेले से
लड़कियाँ उड़ा ले जाने में
ऐसा वर मत चुनना मेरी खातिर

कोई थारी लोटा तो नहीं
कि बाद में जब चाहूँगी बदल लूँगी
अच्छा–खराब होने पर
जो बात–बात में
बात करे लाठी–डंडे की
निकाले तीर–धनुष कुल्हाडी
जब चाहे चला जाए बंगाल, आसाम,
कश्मीर
ऐसा वर नहीं चाहिए मुझे

तथाकथित आधुनिकीरण उनकी संस्कृति निगल गया तथा वहां ओहदों पर बैठे बड़े लोग केवल अपना ही स्वार्थ साधते रहे।

उनकी कई किताबें भी प्रकाशित हो चुकी हैं जिनमें से ओनोंड़हें (संथाली कविता संग्रह), नगाड़े की तरह बजते शब्द, अपने घर की तलाश में, फूटेगा एक नया विद्रोह इत्यादि प्रमुख हैं। इसके अलावा उनकी रचनाएं कई पत्रिकाओं में प्रकाशित हुई है। आकाशवाणी एवं दूरदर्शन, रांची, भागलपुर और दिल्ली से अनेक कहानियों, कविताओं और आलेखों का प्रसारण भी हुआ है। एन.सी.ई.आर.टी, नई दिल्ली द्वारा झारखंड, बिहार, जम्मू–कश्मीर के ग्यारहवीं तथा एनसीईआरटी, केरल द्वारा नवीं कक्षा की पाठ्य पुस्तक में निर्मला की कविताएं शामिल की गयी हैं।

उनकी कविताओं का अनुवाद अंग्रेजी, मराठी, उर्दू, उड़िया, कन्नड़, नाग. पुरी, पंजाबी व नेपाली भाषा में किया गया है। उन्हें कई सम्मान से भी सम्मानित किया जा चुका हैं। जिनमें साहित्य अकादमी, नई दिल्ली द्वारा 'साहित्य सम्मान'(2001), झारखंड सरकार द्वारा 'राजकीय सम्मान', (2006), हिन्दी साहित्य परिषद, मैथन द्वारा सम्मान (2006) "भारत आदिवासी सम्मान' (2006), विनोबा भावे सम्मान' नागरी लिपि परिषद, दिल्ली (2006), 'राष्ट्रीय युवा पुरस्कार', भारतीय भाषा परिषद, कोलकत्ता (2009) इत्यादि मुख्य हैं।

निर्मला पुतुल की रचनाएं स्त्रियों खासकर आदिवासी स्त्रियों के लिए गहरी संवेदना है। उन्होंने उनकी मनोस्थिति को समझकर और उसको ठीक उसी तरह शब्दों में पिरोया। आदिवासी समाज तथा स्त्रियों के बारे में लिखी गयी, उनकी कविताएं उनके संघर्ष तथा संवेदनाओं को बहुत ही मार्मिक और सरलता से आम जनमानस तक पहुंचाती हैं। उनकी कवितायें समाज में व्याप्त बुराई, संघर्ष और कुरीतियों के खिलाफ बोलने का एक जरिया है। वे अपनी कविताओं के माध्यम से समाज में बदलाव की ओर एक सशक्त कदम रखती हैं।

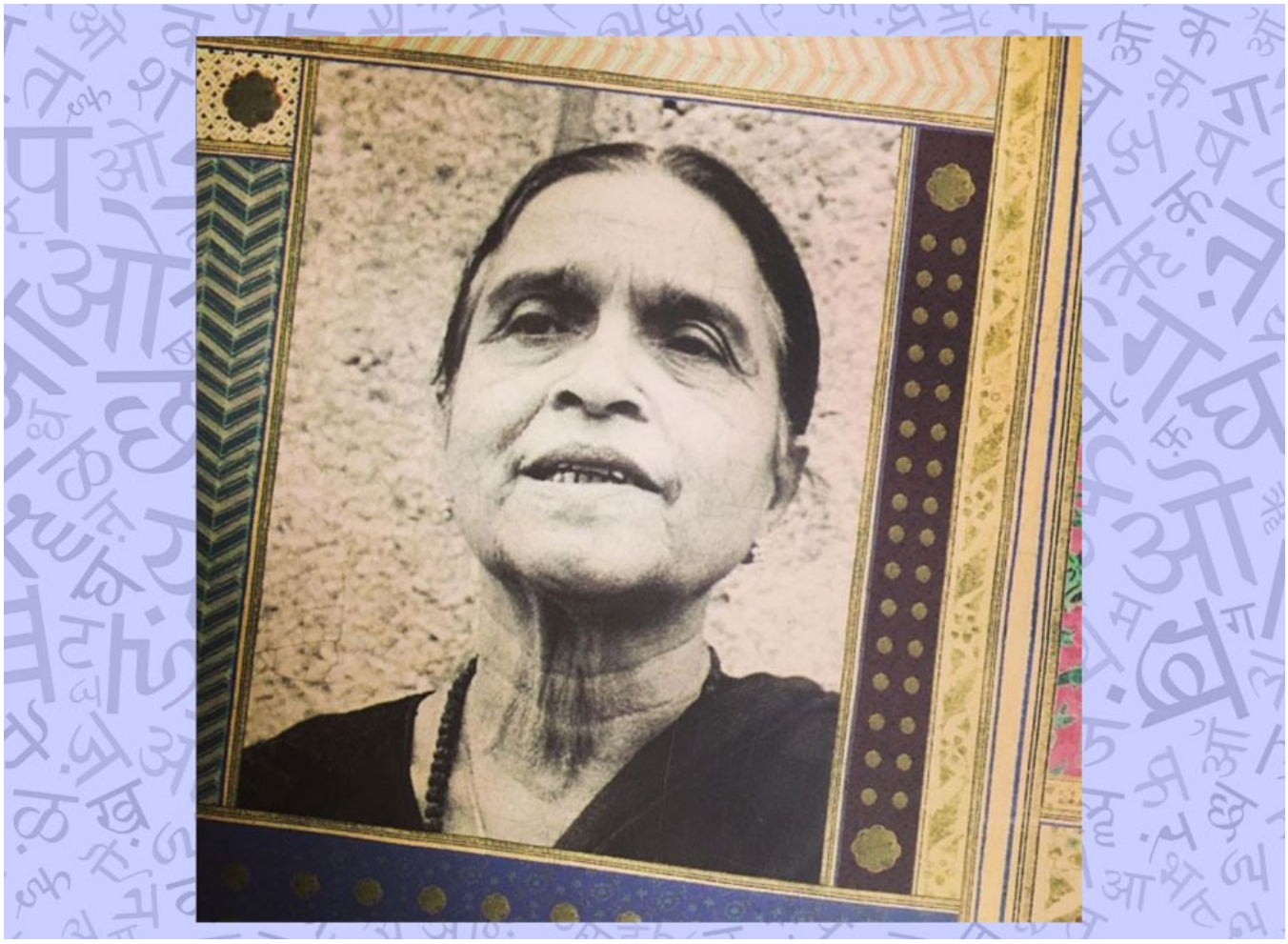

शिवानी जिनकी नायिकाएं हार नहीं मानतीं

क्षमा शर्मा (साभारः hindi.news18.com)

हम सौभाग्यशाली हैं कि हमारी पीढ़ी ने न केवल शिवानी को खूब पढ़ा, बल्कि उन्हें देखा भी और बोलते हुए सुना भी। सत्तर–अस्सी के दशक में उनकी रचनाओं की धूम चारों ओर थी। उनके उपन्यास 'कृष्णकली', 'स्वयंसिद्धा', 'सुरंगमा', 'भैरवी', 'मायापुरी' ने प्रसिद्धि के शिखर छुए थे। शिवानी के लेखन का फलक बहुत विस्तृत था। कहानी, संस्मरण, रेखाचित्र, बच्चों के लिए साहित्य सहित उन्होंने बहुत कुछ लिखा।

वह जमाना आंखों के सामने से अभी–अभी गुजरा लगता है, जब शिवानी के किसी उपन्यास की घोषणा उस समय की सबसे अधिक प्रसार संख्या वाली पत्रिका 'धर्मयुग' या 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' में छपने से होती थी और इन पत्रिकाओं का प्रसार बहुत बढ़ जाता था। यह था शिवानी का जादू। कहते हैं कि उन्होंने बारह वर्ष की उम्र से ही लिखना शुरू कर दिया था और जीवन पर्यंत लिखती रहीं। वह कहती भी थीं कि जब तक उनकी उंगलियां चल रही हैं, लिखती रहेंगी। उनका कहना था कि साहित्य चाहे उपन्यास–कहानी ही क्यों न हो, उसमें लेखक का, कवि होने का कौशल भी झांकता है।

शिवानी पर आरोप लगता था कि उनके पात्र अकसर धनाढ्य वर्ग से आते हैं। इस पर लेखिका का कहना था कि उन्होंने इस वर्ग के आभिजात्य के पीछे छिपी उनकी समस्याओं, आफतों, उनके अनेक चेहरों, कुंठाओं, मुसीबतों को बहुत पास से देखा है, इसीलिए उन पर कलम चलाई है। वह यह भी कहती थीं कि उनके लेखन का मुख्य उद्देश्य समाज में फैली कुरीतियों, भ्रष्टाचार और विसंगतियों को सामने लाना है। चूंकि वह खुद इसी वर्ग से आती

थीं, तो इन स्त्रियों और उनके परिवारों को देखने का अवसर भी नजदीक से मिला। उनका 'कृष्णकली' उपन्यास जब धारावाहिक छप रहा था, तो उसकी बहुत चर्चा होती थी। एक बार शिवानी ने 'कृष्णकली' के बारे में कहा था कि उन्होंने वह उपन्यास जिस पर लिखा था, वह वास्तविक चरित्र था। शिवानी के बारे में कहा जाता था कि उनकी नायिकाएं बेहद सुंदर होती हैं। उनके साहित्य में बदसूरत औरतों की कोई जगह ही नहीं है। इस पर लेखिका का कहना था कि वे कुमाऊं से आती हैं और वहां की स्त्रियां बेहद सुंदर होती हैं।

यहां एक बात कहना जरूरी है कि शिवानी खुद बहुत सुंदर महिला थीं। तीखे नाक–नक्श, गौर वर्ण, लम्बी, पतली। एक बार मैं शिवानी के सम्मान में आयोजित एक कार्यक्रम में गई। शिवानी जब वहां आईं तो उनकी आभा को देखती ही रह गई। जब उन्होंने बोलना शुरू किया तो इतनी धाराप्रवाह और ओजस्वी कि लगता था कि वह बोलती रहें और हम सुनते रहें। हिंदी में बोल रही थीं मगर बीच–बीच में बांग्ला, संस्कृत, अंगरेजी, गुजराती के उद्धरण भी आ–जा रहे थे। वह इन सभी भाषाओं को धाराप्रवाह बोल सकती थीं। उनके बारे में कहा जाता था कि उनकी हिंदी बहुत संस्कृतनिष्ठ है। उसका कारण उन्होंने अपनी पारिवारिक पृष्ठभूमि को बताया था। कई भाषाएं जानते हुए भी उन्होंने लिखने का माध्यम हिंदी को चुना, क्योंकि उनके अनुसार मातृभाषा में लिखना सर्वोपरि होता है।

बेशक उनकी नायिकाएं अपूर्व सौंदर्य की मालकिन होती हैं लेकिन वे साहसी और खुले विचार वाली भी हैं। यहां उनकी नायिकाओं में हमें शिवानी भी झांकती मिलती हैं, जो स्त्री अधिकारों को लेकर बहुत सजग थीं। वे उनकी आजादी, आत्मनिर्भरता और स्वायतत्ता की भी प्रबल पक्षधर थीं। शिवानी के पात्र हमारे आसपास के हैं, जीवंत। इसलिए उनमें अच्छाइयां और बुराइयां दोनों हैं। इसलिए वे मुकम्मल मनुष्य भी हैं। उनकी रचनाओं में समाज में फैली तमाम कुरीतियों का विशद वर्णन है। उनकी नायिकाएं बहुत–सी आफतों को झेलती हैं मगर हार नहीं मानतीं। वे संघर्ष करके जिंदगी की बहुत सी समस्याओं को चुनौतियां देती हैं। शिवानी ने बुजुर्गों की समस्याओं पर भी कलम चलाई थी। 'दो सखियां' उनकी ऐसी ही कहानी है। इसे वृद्धाश्रम पर लिखा गया है। यहां आने वाली औरतें देश के चाहे किसी भी हिस्से से आई हों, उन सबकी समस्याएं एक जैसी हैं। अपने ही बच्चे कभी हाल नहीं पूछते, न कभी मिलने आते हैं। बेटे हों या बेटियां, सब बूढ़े माता–पिता से दूर भागते हैं।

शिवानी दहेज जैसी कुरीतियों की बहुत विरोधी थीं। उनका विचार था कि जो लड़के वाले यह कहते हैं कि हमें कुछ नहीं चाहिए, वे उनसे ज्यादा खतरनाक होते हैं जो मुंह खोलकर कुछ मांगते हैं। न मांगने वालों की मांगें बढ़ती ही जाती हैं और बहुत बार ऐसे परिवारों में लड़कियां हिंसा का शिकार बनती हैं। शिवानी धार्मिक होते हुए भी धार्मिक पाखंडों की बहुत विरोधी थीं। वे विधवा विवाह और तलाक की भी प्रबल समर्थक थीं। उनका कहना था कि महिलाएं ही क्यों हमेशा अन्याय सहती रहें।

शिवानी ने लम्बा समय शांतिनिकेन में बिताया था। वहीं उनकी शिक्षा–दीक्षा हुई थी। गुरुदेव रवींद्रनाथ ठाकुर और पंडित हजारी प्रसाद द्विवेदी की प्रिय शिष्या थीं। शिवानी अपने वक्त में भारतीय संस्कृति को लेकर बहुत सजग थीं। उन्हें लगता था कि युवा पीढ़ी अपनी संस्कृति से कटती जा रही है और यह कोई अच्छी बात नहीं है। इसलिए साहित्य ऐसा हो जो युवाओं को अपनी संस्कृति, अपने समाज से जोड़े रखे। पश्चिम की संस्कृति का जो आक्रमण हमारे ऊपर हो रहा है, उससे कैसे निजात मिले! देखा जाए तो आज यह बात बहुत ही विकट रूप से हमारे सामने है।

एक बार शिवानी ने कहा था कि कई बार यह देखकर अफसोस होता है कि साहित्य के पाठक घटते जा रहे हैं। ऐसे में लेखक के मन में यह बात आती है कि आखिर वह क्यों लिख रहा है। जब पाठक नहीं मिल रहे हैं, या नहीं पढ़ रहे हैं, तो आखिर किसके लिए लिख रहे हैं। यह बात इन दिनों भी हमें बहुत सुनाई देती है कि साहित्य के पाठक नहीं रहे। लेकिन शिवानी को यह क्यों कहना पड़ा, नहीं बता सकती क्योंकि उनके पाठकों की कमी कभी नहीं रही। रेलवे स्टेशनों और बस अड्डों पर उनके उपन्यासों के पेपरबैक संस्मरण बहुतायत से मिलते थे। लोग उन्हें खरीदते थे और पूरी यात्रा के दौरान पढ़ते थे। शिवानी समकालीन लेखकों को भी खूब पढ़ती थीं। महिला लेखन में उनकी विशेष दिलचस्पी थी। वह महिलाओं के लिखे को बहुत पसंद भी करती थीं। आज शिवानी नहीं हैं लेकिन उनकी रचनाएं हमारे साथ हैं।

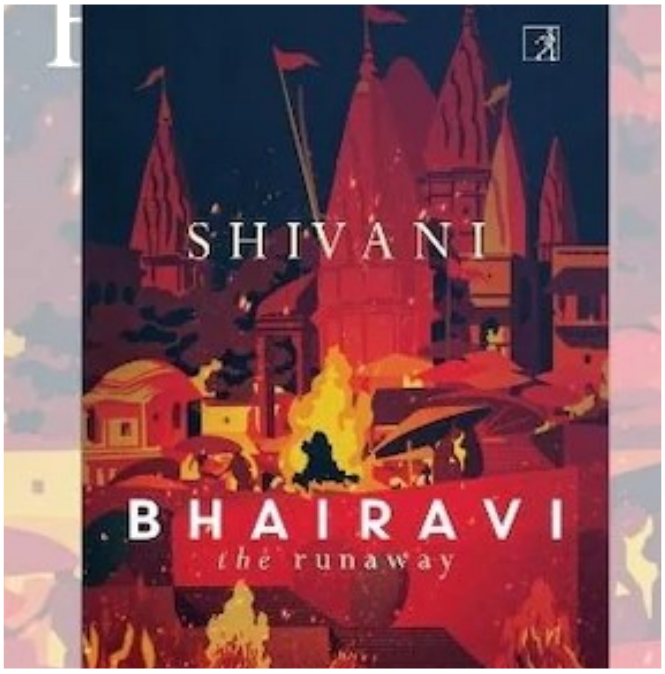

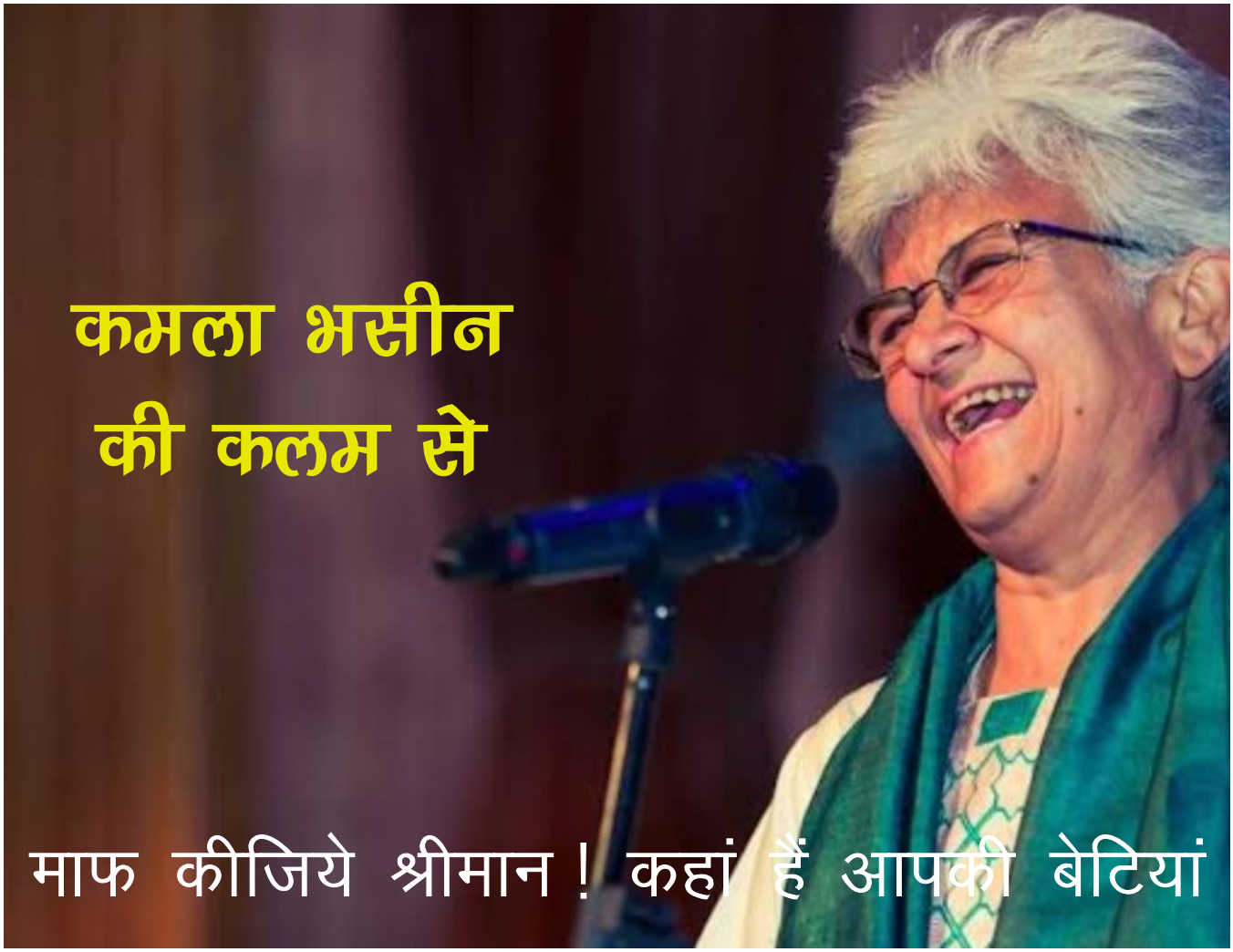

कमला दी आज हमारे बीच नहीं हैं, लेकिन उनकी सोच एक आह्वान की तरह क्रांति का स्वरूप ले रही है। हमारी पत्रिका 'मंजरी: स्त्री के मन की' के 11वें अंक में उन्होंने अतिथि संपादक के तौर पर इस आलेख को लिखा था जो पितृसत्ता को लेकर उनके विचारों को सीधे–सीधे कागज पर उतारती है। इस अंक के लिए हम कमला दी के उसी आलेख को पुनः प्रकाशित कर रहे हैं।

दुनिया में ऐसा एक भी देश नहीं है जहां पितृसत्ता मौजूद नहीं है। यह एक वैश्विक व्यवस्था बन चुकी है। 1967 में जब मैं 21 वर्ष की थी तो जर्मनी आई थी। मैंने सोचा नहीं था कि मुझे एक विकसित देश में भी पितृसत्ता दिखाई देगी लेकिन मैंने इसे हर जगह पाया। जैसे कि मैं मातृभूमि भारत से आई और यहां पितृभूमि जर्मनी को पाया। मैं मां गंगा के देश से आई और यहां पिता राईन को पाया। मैं देवियों के देश से आई और मैंने यहां प्रभु परमेश्वर को देखा। पत्रिकाओं में नंगी औरतों को सेक्स की वस्तु के तौर पर दिखाये जाने से मैं चकित थी। औरत की देह हर जगह बेची जाती है, चाहे वो लोकतांत्रिक देश ही क्यों न हों, जहां कागजों में औरत और मर्द एक समान दिखाये जाते हैं। मैंने पाया कि जर्मन भाषा तक में पितृसत्ता की बू आती थी। एक अविवाहित महिला को 'फ्रॉलाईन' यानी छोटी औरत कहा जाता था, चाहे वो 80 वर्ष की बुजुर्ग ही क्यों न हो। विश्वविद्यालयों में महिला प्रोफेसरों की संख्या नाम मात्र की ही थी। यहां तक कि 200 साल के लोकतंत्र के बाद भी अमेरिका में एक भी महिला राष्ट्रपति नहीं हुई। राजनीतिक घरानों के उत्तराधिकार भी पिता से बेटों तक गए, बेटियों तक नहीं। बुश सीनियर, बुश जूनियर, केनेडी सीनियर, केनेडी जूनियर। माफ कीजियेगा, आपकी बेटियां कहां हैं श्रीमान? स्कैंडिनेविया के पारिवारिक नामों को देख लीजिए। ज्यादातर 'सन' के नाम पर खत्म होते हैं, एरिक्सन, जॉनसन।

महिला आंदोलनों ने हर जगह इन चुनौतियों का सामना किया है और कई चीजें सुधरी भी हैं। हमें हर छोटे से छोटे सुधार के लिए लड़ना है और इसके लिए बड़ी कीमत चुकानी है। इनमें

सबसे बड़ी चुनौती है महिलाओं और बच्चियों पर हिंसा। संयुक्त राष्ट्र के मुताबिक, हर तीन में से एक महिला अपने जीवन में कभी न कभी हिंसा की शिकार होती है। इसका मतलब है कि एक बिलियन औरतें हिंसा का सामना करती हैं। इसमें भी सबसे दुखद है कि हिंसा घर के भीतर ही होती है और करने वाले भी अपने ही होते हैं। घरेलू आतंकवाद का यह रूप वैश्विक है। विश्व की दो महान सभ्यताओं भारत और चीन ने केवल पितृसत्ता के नाम पर 100 मिलियन से अधिक लड़कियों और महिलाओं को मार डाला है। ये सब किया जा रहा है नई तकनीकों के जरिये और बेहद पढ़े–लिखे तबके के द्वारा। 16वीं से 18वीं शताब्दी के बीच यूरोप में लाखों महिलाओं को चुड़ैल के नाम पर मार दिया गया। दुनिया भर में लाखों औरतें बेच दी जाती हैं, लाखों को जननांग विकृति का सामना करना पड़ता है, लाखों औरतें बार्बी डॉल के जैसी दिखने की चाहत में कुपोषित रह जाती हैं तो लाखों औरतों को बलात्कार का शिकार बनना पड़ता है। इन सबका ही नतीजा है कि आज पहली बार इस धरती पर औरतों की संख्या मर्दों से कम हो गई है।

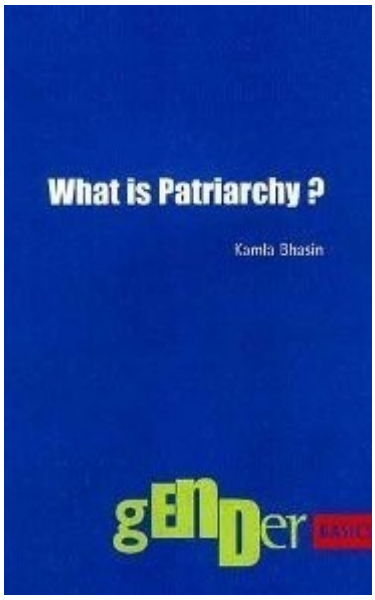

मार्च, 2014 में यूरोपीय फंडामेंटल राइट्स एजेंसी की जोआना गुडी द्वारा किये गये अध्ययन में कहा गया है कि यूरोपीय यूनियन की एक–तिहाई यानी करीब 62 मिलियन औरतों ने शारीरिक या यौन हिंसा झेली है। जर्मनी में तो यह संख्या औसत से भी ज्यादा है और यहां 35 फीसद महिलाएं इसकी शिकार हुई हैं। 55 फीसद महिलाओं को यौन प्रताड़ना का सामना करना पड़ा जबकि इनमें से 75 फीसद नेतृत्व के स्तर पर थीं। इससे यह स्पष्ट होता है कि यौन हिंसा का आर्थिक पिछड़ेपन से कोई लेना–देना नहीं है। मुझे यह बताया गया है कि अति विकसित जर्मनी में भी महिलाओं को पुरुषों की तुलना में 22 फीसद कम पारिश्रमिक दिया जाता है और यहां केवल 3 फीसद औरतें ही शीर्ष पदों पर हैं। जर्मनी के नारीवादियों का मानना है कि यहां के बलात्कार से जुड़े कानूनों में संशोधन की सख्त आवश्यकता है ताकि इसे अधिक प्रभावी बनाया जा सके। एक जर्मन नारीवादी विचारक ने सही ही कहा है कि औरतें अंतिम उपनिवेश होती हैं। उनकी देह, यौवन, प्रजनन और काम करने की क्षमता पर आज भी शासन किया जाता है।

1995 की यूएनडीपी की मानव विकास रिपोर्ट कहती है कि पूरी दुनिया में महिलाओं द्वारा किये जाने वाले घरेलू कामों का मूल्य 11 ट्रिलियन डॉलर वार्षिक के बराबर है। वर्ष 2012 की आईएलओ की रिपोर्ट भी कहती है कि पूरी दुनिया में किये जाने वाले कामों का 60 फीसद हिस्सा औरतें करती हैं, 50 फीसद अनाज वे उपजाती हैं लेकिन आय का केवल 10 फीसद पाती हैं और केवल एक फीसद संपत्ति की स्वामी हैं। इस कांफ्रेंस में जो सवाल उठाया गया है वो ये है कि औरतों की बराबरी के मार्ग में कौन सी चुनौतियां हैं। मैं इसके जवाब में तीन चुनौतियों की बात करूंगी। ये तीनों ही मूल कारणों के रूप में देखे जा सकते हैं। अगर मैं ऐतिहासिक तौर पर शुरू करूं तो मैं कहूंगी कि धर्म सबसे पहली बाधा है। कोई भी धर्म ये स्वीकार नहीं करता कि एक औरत पोप बने, शंकराचार्य या दलाई लामा बने। सारे धर्म अपने सिद्धांतों और व्यवहार में स्त्री और पुरुष के बीच एक पदक्रम का निर्माण करते हैं। यदि भगवान पुरुष है तो पुरुष भी भगवान है। अब क्योंकि धर्म पदक्रम बनाते हैं इसलिए वे राष्ट्र के संविधान को भी नहीं मानते हैं। वे संयुक्त राष्ट्र के मानवाधिकारों के घोषणापत्रों को भी नहीं मानते। फिर भी कई राजनीतिक दल इन धर्मों का प्रत्यक्ष व परोक्ष रूप से समर्थन करते हैं। अमेरिका और वेटिकन उन कुछ देशों में हैं जिन्होंने सीईडीएडब्ल्यू को मंजूरी नहीं दी है। दोस्तों, हममें से कई नारीवादी ये मानते हैं कि पितृसत्तावादी धर्मों को चुनौती दिये बिना हम लैंगिक समानता नहीं ला सकते। इसलिए हमारे बाएं हाथ को पता होना चाहिए कि दाहिना हाथ क्या कर रहा है। मैं ये जानकर खुश हूं कि वर्ल्ड काउंसिल ऑफ चर्चेज और ब्रेड फॉर द वर्ल्ड जैसे संगठन चर्च में इस सत्ता को चुनौती देने के काम में लगे हैं।

दूसरी बड़ी चुनौती जो मेरे विचार में है वो है पूंजीवादी पितृसत्ता। आज बच्चों और महिलाओं की पोर्नोग्राफी और तस्करी करोड़ों का कारोबार बन चुका है। कॉस्मेटिक्स यानी श्रृंगार प्रसाधन बड़े बिजनेस हैं। बार्बी डॉल और बंदूकों तथा सुपरमैन जैसे हिंसक कम्प्यूटर गेम करोड़ों का मुनाफा कमा रहे हैं। हॉलीवुड, बॉलीवुड और कॉरपोरेट मीडिया विशाल उद्योग बन चुके हैं। सभी औरतों का इस्तेमाल वस्तु की तरह करते हैं। वे उन्हें सेक्स की चीज के तौर पर, सहायक और पुरुषों को 'मर्द' बनाने वाली के तौर पर प्रस्तुत करते हैं। तीसरी चुनौती विकसित दुनिया द्वारा थोपा गया आर्थिक प्रतिमान है। यह लालच पर आधारित व्यवस्था है। इसने गला काट मुक. ाबले को प्रोत्साहित किया है और ऐसे में इसने असमानता को फैलाया है, पर्यावरण को नष्ट किया है और महिलाओं व गरीबों को हाशिये पर धकेला है। यह प्रतिमान कभी भी औरतों के लिए बराबरी और उनके अधिकारों की वकालत नहीं कर सकता। हाल ही में हुए एक अध्ययन में बताया गया है कि जर्मनी में आर्थिक विकास और निजी संपत्ति में वृद्धि होने के बाद भी गरीब और अमीर के बीच की खाई 15.2 फीसद तक बढ़ी है जो अब तक की सर्वाधिक है। तो अगर विकास का यह फार्मूला आपके देश में रोजगार,

सम्मान और लैंगिक समानता नहीं ला सका तो ये हमारे देश में कैसे ला सकता है?

हमें कुछ अन्य मुद्दों की ओर भी देखना होगा जैसे कि युद्ध और धर्मों में व्याप्त कट्टरवाद लेकिन केवल इस्लाम में ही नहीं, जो महिलाओं के खिलाफ हिंसा को बढ़ाता है और उन्हें बाधित करता है। अमेरिका और यूरोपीय यूनियन युद्ध में सबसे ज्यादा सक्रिय रहे हैं। संयुक्त राष्ट्र की सुरक्षा परिषद के मुख्य देश हथियारों के सबसे बड़े आपूर्तिकर्ता और विक्रेता हैं। दोस्तों, हममें से ज्यादातर लोग जेंडर को मुख्यधारा में लाने की वकालत करते हैं। लेकिन इसमें भी कई समस्याएं हैं। मुख्यधारा मर्दधारा बन चुकी है। इसलिए मुख्यधारा में घुसने की बजाय हमें इसका एक हिस्सा बनकर कई अन्य हिस्सों को चुनौती देनी होगी। क्या हम इसके लिए तैयार हैं? महात्मा गांधी आज से 80 साल पहले ही इन समस्याओं को जान चुके थे। एक बार एक पत्रकार ने गांधी जी से पूछा था कि क्या आप चाहते हैं कि भारत का जीवन स्तर भी ब्रिटेन के जीवन स्तर जैसा हो? गांधी जी ने जवाब दिया था ''छोटे से देश ग्रेट ब्रिटेन को अपना जीवन स्तर सुधारने के लिए आधी दुनिया का शोषण करना पड़ा। फिर सोचो भारत को कितनी सारी दुनिया का दोहन करना पड़ेगा? यही कारण रहा कि विश्व आर्थिक फोरम के जवाब में हमने विश्व सामाजिक फोरम की शुरुआत की ताकि आमजन समर्थित, महिला समर्थित और प्रकृति समर्थित फार्मूला तैयार किया जा सके। वर्ल्ड सोशल फोरम का मुख्य नारा है 'संभव है पृथक दुनिया।'

दोस्तों, अब मैं समाधान की ओर आना चाहती हूं। मैं अपने 44 साल के कामों के बारे में बताना चाहती हूं। पितृसत्ता, नव उदारवादी आर्थिक विकास, संघर्ष और युद्ध, ये सभी ग्लोबल हैं इसलिए न्याय, मानवाधिकार और स्थायी विकास के लिए हमारा संघर्ष भी ग्लोबल होना चाहिए। हमें वैश्विक एकजुटता और साझेदारी का प्रदर्शन करना होगा। मैं 'पीस वुमेन' की सह अध्यक्ष हूं। मैं 'वन बिलियन राइजिंग' की दक्षिण एशिया कोर्डिनेटर हूं। मैं सोचती हूं कि आज पुरुषों और लड़कों को लैंगिक समानता और न्याय के आंदोलन में साथ आना चाहिए। मर्दों को ये समझना होगा कि पितृसत्ता उन्हें भी नुकसान पहुंचा रही है। पितृसत्ता उन्हें पावर और सुविधा तो देती है लेकिन उन्हें अमानवीय बना देती है, उनसे विनम्रता छीन लेती है। भारत में 40 फीसद पुरुष अपनी पत्नियों को पीटते हैं। इसका मतलब है कि देश में 40 फीसद मर्द अपराधी हैं। सभी मर्द बलात्कारी नहीं होते लेकिन सभी बलात्कारी मर्द होते हैं। 99 फीसद आतंकवादी मर्द होते हैं। अमेरिका में हर कुछ महीने के बाद स्कूलों में फायरिंग कर कई लोगों की जान लेने वाले भी युवा लड़के होते हैं, लड़कियां नहीं। दोस्तों, ये लोग जन्म से हिंसक नहीं होते हैं। समाज और हम सब लड़कों को खेलने के लिए बंदूकों वाले खिलौने देते हैं। हम उन्हें सिखाते हैं कि वे कुछ भी कर सकते हैं क्योंकि वे लड़के हैं। हम उन्हें कहते हैं कि रोना मत क्योंकि मर्द कभी रोते नहीं हैं। हम उन्हें बहुत धीरे–धीरे और क्रम से हिंसक बनाते जा रहे हैं। इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि पुरुषों को औरतों को बराबरी का दर्जा देने, बच्चों को संभालने या अपनी भावनाओं को काबू में रखने नहीं आता। मुख्यधारा में बने रहने और अच्छा प्रदर्शन करने के दवाब में कई मजबूत औरतें भी मर्दाना व्यवहार करने लगती हैं। यह एक खतरनाक ट्रेंड है। हमें खुद को कठोर और दमनकारी बनाने के बजाय मर्दों को विनम्र बनने में उनकी मदद करनी होगी।

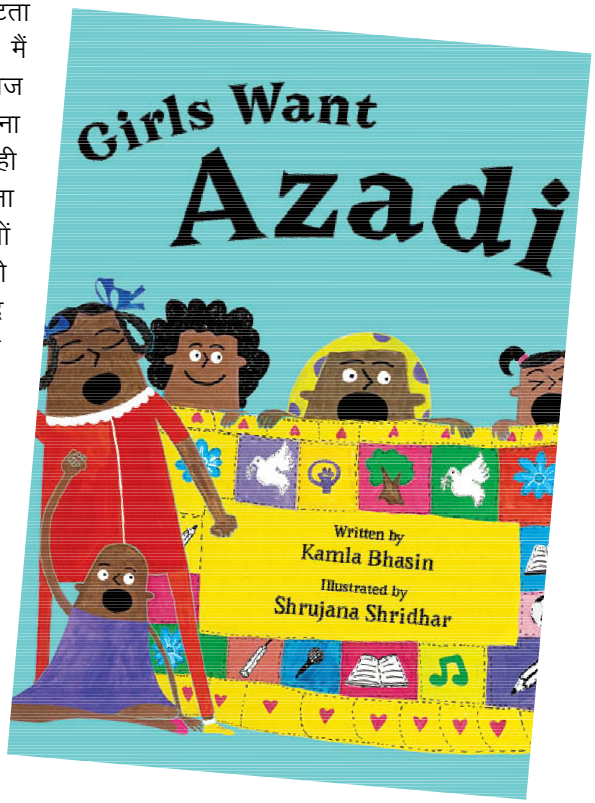

अब खामोशी नहीं
आवाज उठेगी

- शारीरिक हिंसा
- लैंगिक हिंसा
- मौखिक दुर्व्यवहार
- भावनात्मक दुर्व्यवहार
- आर्थिक बल प्रयोग
- दहेज संबंधी उत्पीड़न

आदि घरेलू हिंसा

के खिलाफ

महिला हिंसा से संबंधित किसी भी शिकायत के निराकरण में सहयोग के लिए कि तुरन्त 181 से संपर्क करें!

इस प्रकार की शिकायत हेतु जिला स्तरीय महिला हेल्पलाईन/स्थानीय थाना से संपर्क करें।

महिला विकास निगम, समाज कल्याण विभाग, बिहार सरकार द्वारा जनहित में जारी

कृष्णा सोबती

विभाजन का दर्द, स्त्री मन की इच्छा भी

भीष्म साहिनी के 'तमस' के साथ–साथ कृष्णा सोबती का 'जिंदगीनामा' इस प्रसंग में एक विशिष्ट उपलब्धि रही है। जिदगीनामा के लिए ही उन्हें साहित्य अकादमी पुरस्कार से सम्मानित किया गया था। वैसे तो कृष्णा सोबती ने जो भी लिखा सबकुछ साहित्य के लिए बड़ी देन है लेकिन 'सूरजमुखी अंधेरे के' और 'जिंदगीनामा' हिन्दी साहित्य में मील का पत्थर जैसा है। 'सूरजमुखी अंधेरे के' में अलगाव से जूझती एक ऐसी महिला की कहानी है जिसने अपने जीवन के उत्तरार्द्ध में वह चुना जिसे उसे बहुत पहले चुन लेना चाहिए। 'जिंदगीनामा' में पंजाब के समाज का रोजमर्रापन और उसके बीच अपने लिए गुंजाइशें निकालते इंसानों की टूटी–बिखरी गाथाएं हैं।

1950 में कहानी 'लामा' से अपने साहित्यिक सफर शुरू करने वाली कृष्णा सोबती साहसपूर्ण सर्जनात्मकता और सम्पूर्ण प्रखरता के साथ लगातार लिखती रहीं और पाठकों के जीवन की सहज लय में रच–बस गईं। संकोच या अपराधबोध के बिना स्त्री मन की गांठ खोलने वाली लेखिका हिन्दी साहित्य हो या उर्दू साहित्य, यौन जीवन के अनुभवों पर लेखन को आसानी से स्वीकृति नहीं मिलती। खासकर तब तो बिलकुल भी नहीं जब यौन जीवन के अनुभव किसी महिला पात्र के हों। लेकिन कृष्णा सोबती की सृजन यात्रा किसी भी तरह के संकोच या अपराधबोध के बिना स्त्री मन की गांठ खोलने में सफल रही। साठ के दशक में आए उनके उपन्यास 'मित्रो मरजानी' ने यौनिकता के खुलेआम इजहार से हिंदी जगत में उस समय तहलका ही मचा दिया था। अपने लेखन में, उन्होंने हिंदी कथा साहित्य में पंजाबी को हिंदी के साथ मिलाकर एक नई कथा भाषा बनाई। कथन की उनकी रणनीतियों ने पारंपरिक कहानी

संघर्ष की दास्तान, विभाजन की यातना, अदम्य जिजीविषा, बिना संकोच या अपराधबोध के स्त्री मन की गांठ खोलने की हिम्मत और तत्कालीन राजनीतिक हालात को बंया करने वाली लेखिका थीं कृष्णा सोबती। अपने वक्त की नब्ज टटोलकर भविष्य को लिखने का हुनर उनके साहित्य में देखने को मिलता है।

आजाद हिन्दुस्तान की सबसे बड़ी त्रासदियों में से एक विभाजन है। वही विभाजन जिसने एक मुल्क के दो टुकड़े कर दिए। विभाजन के दर्द और त्रासदी से कोई लेखक कैसे अछूता रह सकता था। भारत पाकिस्तान पर जिन लेखकों ने हिंदी में कालजयी रचनाएं लिखी थी, उनमें कृष्णा सोबती का नाम पहली कतार में रखा जाएगा। बल्कि शायद यह कहना भी उचित होगा कि यशपाल के 'झूठा–सच', राही मासूम रजा के 'आधा गांव' और

कहने की तकनीकों को आधुनिकतावादी नवाचार के साथ रचनात्मक रूप से जोड़ा। उनके महिला पात्र उनकी कल्पना और वास्तविकता की गहरी समझ से स्पष्टवादी, भावुक और बहुत मानवीय बनकर उभरे– न तो पितृसत्ता या सामाजिक रूढ़िवादी नैतिकता से डरती थीं और न ही अपने कच्चे जुनून को रोकने के लिए तैयार थीं।

ऐसा नहीं कि उन्होंने केवल महिलाओं के यौन जीवन के अनुभव को लिखा। गुलाम भारत में जन्मीं और देश विभाजन के बाद पाकिस्तान के गुजरात की अपनी स्मृतियों की पोटली बांधकर पहली नौकरी के लिए सिरोही पहुंचने वाली कृष्णा सोबती के पास उन्हीं की तरह शरणार्थी बनी और पंजाब से लेकर दिल्ली तक की हजारों महिलाओं के साझा और व्यक्तिगत अनुभव हैं। उन्होंने इन अनुभवों को भी लिखा। विभाजन की त्रासदी पर उनका आत्मकथात्मक उपन्यास 'गुजरात पकिस्तान से गुजरात हिंदुस्तान' एक बेहतरीन उपन्यास है। इसमें धर्म विशेष की महिलाओं के साथ अत्याचार और स्त्री देह और मन पर गुजरने वाली यातना का मनोवैज्ञानिक चित्रण है। उपन्यास में हर पन्ने के बाद एक सवाल जो जहन में उठता है कि क्यों विभाजन के बाद न कोई यहां था आंसू पोंछने के लिए और न ही कोई वहां था कंधा देने के लिए।

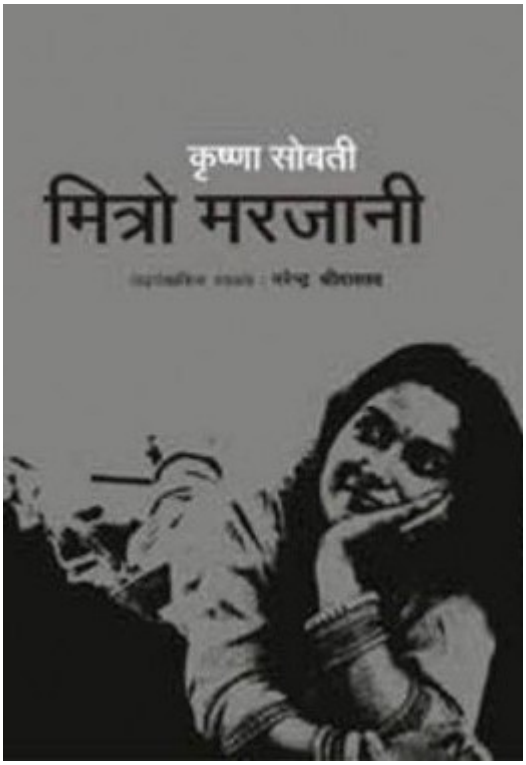

कृष्णा सोबती का साहित्य मूलतः धर्म, संस्कृति और मर्यादा की आड़ में शोषित लोगों का प्रतिनिधित्व करता है। साहित्य में समाज का प्रति. बिंब होता है। हम जिस वातावरण में, परिवेश में जीते हैं, साहित्य में उसी का चित्रण होता है। कृष्णा सोबती ने भी वैसा ही किया। जिस परिवेश में रहीं, जिसे भोगा उसे ही लिखा। उन्होंने अपने लेखन के बारे में एक बार कहा था.. ''मैं उस सदी की पैदावार हूं जिसने बहुत कुछ दिया और बहुत कुछ छीन लिया यानि एक थी आजादी और एक था विभाजन। मेरा मानना है कि लेखक सिर्फ अपनी लड़ाई नही लड़ता और न ही सिर्फ अपने दुःख दर्द और खुशी का लेखा जोखा पेश करता है। लेखक को उगना होता है, भिड़ना होता है। हर मौसम और हर दौर से नजदीक और दूर होते रिश्तों के साथ, रिश्तों के गुणा और भाग के साथ। इतिहास के फैसलों और फासलों के साथ। मेरे आसपास की आबोहवा ने मेरे रचना संसार और उसकी भाषा को तय किया। जो मैंने देखा, जो मैंने जिया वही मैंने लिखा''।

हिन्दी साहित्य पढ़ने वाला या इसमें रुचि रखने वाला शायद ही कोई शख्स हो जो अमृता प्रीतम और कृष्णा सोबती के बीच चली लंबी अदालती लड़ाई के बारे में न जानता हो। दरअसल कृष्णा सोबती ने अमृता प्रीतम पर उनकी कृति 'हरदत्त का जिंदगीनामा' को लेकर केस कर दिया था। वो केस करीब पच्चीस साल तक चला था और फैसला अमृता प्रीतम के पक्ष में आया था। दरअसल अमृता प्रीतम की किताब हरदत्त का जिंदगीनामा, जब छपी तो कृष्णा सोबती को लगा कि ये शीर्षक उनके चर्चित उपन्यास जिंदगीनामा से उड़ाया गया है और वो कोर्ट चली गईं। दोनों के बीच इस साहित्यिक विवाद की उस वक्त पूरे देश में खूब चर्चा हुई थी। जब केस का फैसला आया तो अमृता प्रीतम की मौत हो गई थी। केस के फैसले के बाद कृष्णा सोबती ने बौद्धिक संपदा का तर्क देते हुए कहा था कि हार जीत से ज्यादा जरूरी उनके लिए अपनी बौद्धिक संपदा की रक्षा के लिए संघर्ष करना था। इस मुकदमे में उनके वकील और नारीवादी मुद्दों के चर्चित लेखक अरविन्द जैन थे। अरविन्द जैन ने कहा कि अमृता प्रीतम के साथ उनका जो मुकदमा चला उसमें सोबती ने काफी नुकसान भी उठाया और अंत में वह मुकदमा हारी क्योंकि अदालत ने कहा कि किसी किताब के शीर्षक पर किसी का अधिकार नहीं हो सकता। किंतु उन्होंने अपने सिद्धांतों से कभी समझौता नहीं किया।

कृष्णा सोबती ने इस तथ्य के बावजूद सम्मान, साहस, उदारता और सहानुभूति का जीवन जीया कि उन्हें अपने जीवन में बहुत पहले ही विभाजन का झटका झेलना पड़ा था। उनके लिए साहित्य ही उनका देश था। और फिर भी वह पूरी तरह से भारतीय थी, हालांकि मजाक में कभी–कभी वह दावा करती थी कि उनके परिवार की वंशावली में कुछ यूनानी तत्व थे! उनके मित्र और प्रशंसक उनकी कमी महसूस करेंगे, लेकिन उन्होंने एक ऐसा काम तैयार किया है, जो कमोबेश पहले ही क्लासिक दर्जा प्राप्त कर चुका है। वह दृढ़ता से एक आधुनिक भारतीय क्लासिक हैं। जिंदगीनामा, दिलोदानिश, ऐ लड़की, बादलों के घेरे, समय सरगम, डखर से बिछुड़ी, मित्रो मरजानी, सूरजमुखी अंधेरे के, हम हशमत, शब्दों के आलोक मे, इन किताबों से कृष्णा सोबती के कद का अंदाजा लगाया जा सकता है।

इस्मत चुगताई

बिंदास और नारीवादी

सुषमा 'शांडिल्य' (साभार: outlookhindi.com)

इस्मत चुगताई, उर्दू साहित्य की ऐसी सशक्त, बेबाक, प्रबुद्ध, बिंदास, बोल्ड और नारीवादी अफसानानिगार थीं, जिनके बेखौफ, निराले लेखन की वजह से उर्दू अदब में उनका नाम चोटी के नामों में शुमार था। प्रगतिशीलता की प्रतीक, इस्मत सर्वाधिक विवादास्पद लेखिका थीं जिन्होंने औरतों से जुड़े मुद्दों को मानीखेज, चुटीले अंदाज, संजीदगी मगर निर्भीकता से लिखने का दुस्साहस ऐसे दौर में किया, जब मर्द भी औरतों से जुड़े संवेदनशील मुद्दों पर लिखने से हिचकते, बचते और खौफ खाते थे। इस्मत ने औरतों पर होने वाले अत्याचारों के लिए समाज पर उंगली उठाने में कतई खौफ महसूस नहीं किया। उनके अफसानों में महिला पात्रों द्वारा अस्तित्व की लड़ाई अपने अंदाज में लड़ी गयी है।

इस्मत ने मध्यमवर्गीय और वंचित निम्न वर्ग की मुस्लिम महिलाओं के परिवेश को बखूबी चित्रित किया। इस्मत की पाठिकाओं को उनके ठेठ मुहावरेदार, गंगा–जमुनी भाषा में रचे महिला पात्र सच्चे, जिंदगी के निहायत करीब नजर आए। उनके अफसानों में रोजमर्रा की तकलीफें, परेशानियां, तल्ख हकीकतें और दुःख–दर्द की झलकियां नजर आने से अफसाने लोकप्रिय हुए। इस्मत को औरतों के संघर्षों, पीड़ा और वेदना ने इस कदर आहत किया कि किरदारों के माध्यम से खाके खींचते हुए उन्होंने औरतों पर हुए अन्यायों के लिए समाज को कटघरे में खड़ा करके आईना दिखाया। इस्मत जादूगरनी थीं जो चमत्कार ना करके, कहानियों के जरिए जिंदगी से इश्क करने पर मजबूर कर देती थीं। इस्मत ने मुस्लिम तबके की दबी–कुचली, सकुचाई–कुम्हलाई, पीड़ित–सतायी लड़कियों–औरतों की मनोदशा को ईमानदारी से कलमबद्ध किया। इस्मत ने बकलम खुद, जीवनानुभवों को मुख्तलिफ रंगों में खूबसूरती से रचा। मजाहिया और तन्जिया चुटकियों से लैस, बेजोड़ शैली में लिखने में उनको महारत हासिल थी जो उनके कद्रदानों के लिए खुशी का बायस रही। मुहब्बत से

''अरे भई, कैसा समन है? पढ़ लीजिए, पुलिस इंस्पेक्टर ने बड़ी रुखाई से कहा, और समन की सुर्खी पढ़कर उनकी हँसी छूट गई।'' ये हँसी थी इस्मत चुगताई की, जिन्हें उनकी कहानी 'लिहाफ' के लिए कोर्ट का समन आया था, जिस पर लाहौर हाई कोर्ट में अश्लीलता का मामला दर्ज कराया गया था। इस्मत चुगताई की छोटी बेटी सबरीना लतीफ ने इस वाकये को याद करते हुए बीबीसी से कहा, "माँ बहुत ही बड़े स्तर पर सोचती थीं, वो जगबीती को आपबीती बना कर सच लिखती थीं।" अपनी आत्मकथा 'कागजी है पैरहन' में इस्मत चुगताई ने जिक्र किया है कि जब पहली बार उन्होंने बुर्का पहना तो उन्हें घुटन महसूस हुई थी। सबरीना लतीफ बताती हैं, "उन्होंने हमें कभी बुर्का पहनने के लिए नहीं कहा। वो कहती थीं कि हर इंसान को चुनाव करने का अधिकार है।"

लिखे किरदारों के दुख–सुख पढ़कर उन्हें प्यार से सभी 'इस्मत आपा' कहते थे।

इस्मत, दस भाई–बहनों में छोटी थीं, बड़ी बहनों की शादी और विदा के बाद बचपन भाइयों के साथ हॉकी, फुटबॉल, गिल्ली डंडा जैसे लड़कों के खेल खेलने में बीता। इस्मत के अनुसार, ये उनकी मां के लिए शर्मनाक था, लेकिन भाइयों की संगत के फलस्वरूप लेखन में लड़कों जैसे विद्रो. ही तेवर, धार, पैनापन और बेबाकी आयी पर बकौल इस्मत, 'अपराधी थे उनके भाई।' प्रारंभिक दौर ने उनके व्यक्तित्व को बेखौफ बनाकर तराशा जो अंततः दुस्साहस और अतीव मुखरता में तब्दील हो गया। रिश्तेदारों के प्रतिरोध के बावजूद, इस्मत ने 1938 में लखनऊ से बीए करके फिर अलीगढ़ से शिक्षक प्रशिक्षण की डिग्री ली। भाई मिर्जा अजीम बेग चुगताई लेखक थे, अतः भाईरूपी उस्ताद मिलना लेखिका बनने में महत्वपूर्ण सिद्ध हुआ। उन्होंने 1942 में मुंबई के फिल्म निर्देशक और पटकथा लेखक शाहिद लतीफ से शादी की और पति के साथ फिल्मों के लिए पटकथा और संवाद लिखे।

समकालीन 'मंटो', लफ्फाजी से अलहदा सशक्त और निर्भीक भाषा के पैरोकार थे इसलिए इस्मत 'मंटो' से प्रेरित, प्रभावित थीं जो उनकी शैली में परिलक्षित हुआ। उन पर पश्चिमी लेखकों, 'जी.बी. शॉ', 'सिगमंड फ्रायड' और 'डी.एच.लॉरेंस' का भी प्रभाव पड़ा। उर्दू अदब में इस्मत के अलावा 'मंटो, कृष्ण चंदर और राजेंद्र सिंह बेदी' प्रमुख माने जाते हैं, पर मंटो और इस्मत, अविस्मरणीय योगदान के लिए सर्वोच्च माने गए। इस्मत के अलावा 'मंटो' ने भी बेबाकी से औरतों के मुद्दों पर लिखा जिसके चलते दोनों आलोचकों के कोपभाजन हुए।

इस्मत ने रोचक, चुटीले अंदाज में, सार्थक व्यंगों के माध्यम से समाज की कुरीतियों और अंधविश्वासों पर भी कड़ा प्रहार करने से गुरेज नहीं किया, जो आला. चकों के लिए असहनीय था, पर 'इस्मत आपा' को कहां परवाह थी आलोचनाओं की, क्योंकि वो निर्भीकता की मिट्टी से निर्मित ऐसी दबंग रूह थीं जिन्होंने उस समय नंगा सच लिखा जब औरतों पर तमाम बंदिशें थीं। आज जब खवातीन फेमिनिज्म की अलम्बरदार बनी हुई हैं, तब काबिलेगौर है कि आजादी के पहले इस्मत ने नारी विमर्श को साहित्य में सर्वोच्च स्थान दिया जो समय से बहुत आगे की उनकी तरक्कीयाफ्ता सोच का परिचायक है।

इस्मत को साहित्यिक हल्कों में शुरुआत में कोई नहीं जानता था, पर 1942 में महिला समलैंगिकता पर आधारित उनकी कहानी 'लिहाफ' प्रकाशित हुयी और वो साहित्यिक परिदृश्य पर धमाकेदार तरीके से प्रकट होकर छा गयीं। 'लिहाफ' प्रकाशित होते ही इस्मत को तीखी आलोचनाएं झेलनी पड़ीं। 'लिहाफ' दो महिलाओं की कहानी है, जिनमें एक पति के प्यार से वंचित और दूसरी उसकी दासी है। दोनों के नीरस जीवन में प्रेम का अभाव उनको यौन संतुष्टि के माध्यम से करीब लाता है। कहानी को महिला समलैंगिकता के कारण बेहद फुहश (अश्लील) माना गया। विवादास्पद 'लिहाफ' चर्चित और मशहूर हुई जिसमें हवेलियों के जनानखाने में औरतों के समलैंगिक रिश्तों की अंदरूनी हकीकतों की परतें उधेड़ीं गयीं थीं। 'लिहाफ' पढ़ने पर उनकी ऊंची सोच समझ में आती है। उस दौर में लेखक समलैंगिकता जैसे पर्दों में छुपे, ढंके, अछूते विषय पर लिखने से परहेज करते थे, इस्मत ने ऐसी कहानी लिखकर दुस्साहस का परिचय दिया। 'लिहाफ' से प्रसिद्धी मिली पर कथित 'अश्लीलता' के परिणामस्वरूप अदालत ने उन्हें तलब करके उन पर अश्लीलता का मामला दर्ज किया, जो बाद में वापस लिया गया।

उर्दू में रोमांस को बखानती कविताओं में प्रतीकात्मक शब्दों में पुरुष समलैंगिकता, कामुकता संबंधी विषय वर्जित नहीं थे। रूढ़िवादी समाज में गुप्त और खुले कामुक भावों पर चुपचाप मुस्कुराया जाता था। कवि 'महिला समलैंगिकता' के लिए गुप्त इशारे लिखते थे पर ना ध्यान दिया जाता था ना विरोध किया जाता था। इसके विपरीत, 'लिहाफ' में समलैंगिकता दर्शाया जाना किसी तरह मंजूर नहीं किया गया। प्रगतिवाद के स्पर्श से लबरेज महिलाओं द्वारा झेली गयी सामाजिक, मनोवैज्ञानिक और यौन समस्याओं के बारे में इस्मत का लेखन, वास्तविक अर्थों में यथार्थ नारीवाद था जो पितृसत्तात्मक समाज में बम विस्फोट की तरह था। 18वीं–19वीं शताब्दी में पुरुष ही नहीं, औरतें भी महिलाओं को पारंपरिक नारी की छवि में बंधी गुणी, विनम्र, संवेदनशील और आज्ञाकारी देखना चाहती थीं। इस्मत ने विद्रोही तेवर के साथ लिखा कि भारत के पुरुषप्रधान समाज में स्त्री की असली भावनाओं और संवेदनाओं को कभी समझने की कोशिश ही नहीं की गयी। इससे पहले किसी महिला ने निर्भय होकर, बेबाक स्वरों में ऐसे विचार व्यक्त नहीं किए थे। इस्मत पुरुष प्रधान समाज के दोगले रवैये का भरपूर मजाक उड़ाती थीं।

इस्मत का 'टेढ़ी लकीर' सर्वश्रेष्ठ उपन्यास है, जिसके लिए उन्हें 'गालिब अवार्ड' मिला था। 'जिद्दी, मासूमा, सौदाई, जंगली कबूतर, एक कतरा–ए–खून, बहरूप नगर, बांदी और दिल की दुनिया' अन्य उपन्यास हैं। 'अजीब आदमी' उपन्यास गुरुदत्त के जीवन पर आधारित है। इस्मत ने उस संक्रमण युग में समाज के द्विभाजन पर सवाल उठाने के लिए बड़े पैमाने पर लड़कियों की मजबूत परवरिश की मांग उठायी। इस्मत को जानने और समकालीन प्रासंगिकता से संबंधित होने के लिए उनकी आत्मकथा 'कागजी है पैरहन' जरूर पढ़नी चाहिए। 'कलियां, चोटें, एक रात, छुईमुई, एक बात, दो हाथ, शैतान' और 'थोड़ी सी पागल' कहानी संग्रह हैं। 'यहां से वहां तक' में पाकिस्तान यात्रा का विवरण है। भाई अजीम बेग की मृत्यु के बाद लिखा गया 'दोजखी' सर्वश्रेष्ठ पेन–स्केच है जो दुखद, भावुक और विश्लेषणात्मक है।

Faisal Malik

Chandan Das

जश्न-ए-बिहार

Vidha Lal & Group

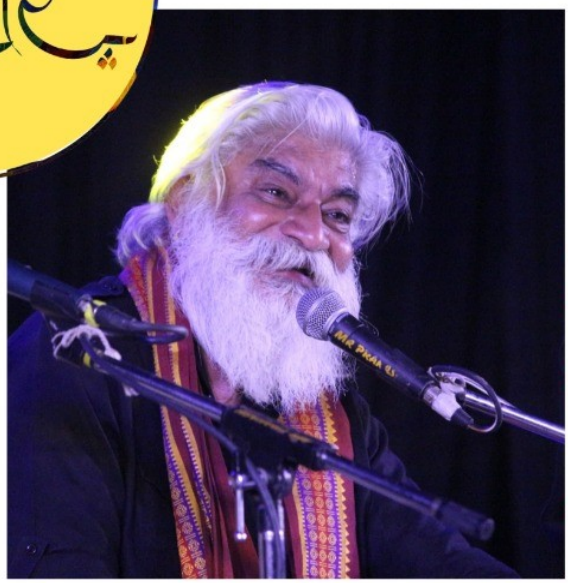

Rajeev Singh & Group

बिहार सरकार

कला, संस्कृति एवं युवा विभाग

@ArtCultureYouth

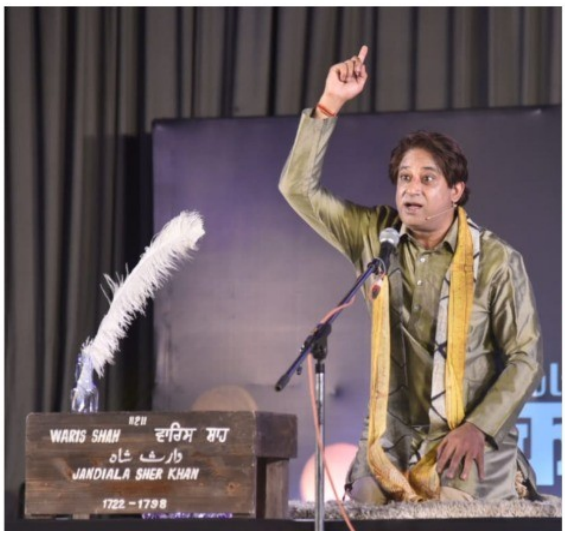

Manu Sikander

www.emanjari.com

इक्विटी फाउंडेशन
123 ए, पाटलीपुत्र कॉलोनी
पटना, 13

equityasia@gmail.com
www.emanjari.com
06122270171
6207092051
7979772023

RNI Title Code: BIHBIL02442

© : इक्विटी फाउंडेशन